'संदेशरासक' और 'बीसलदेवरासो' का तुलनात्मक अध्ययन

(विरह-वर्णन के विशेष संदर्भ में)

[COMPARATIVE STUDY OF 'SANDESHRASAK' AND 'BISALDEV RASO']

(एम.फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु *शोध-प्रबन्ध*)

शोध-निर्देशक
डॉ. ओमप्रकाश सिंह

शोध-छात्रा
दीपशिखा सिंह

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

2011

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
CENTRE OF INDIAN LANGUAGES
SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE & CULTURE STUDIES
NEW DELHI-110 067, INDIA

Dated 25/07/2011

DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation entitle "'SANDESHRASAK' AUR 'BISALDEVRASO' KA TULNATMAK ADHYAYAN (VIRAH VARNAN KE VISHESH SANDARBH MEIN)" [COMPARATIVE STUDY OF 'SANDESHRASAK' AND 'BISALDEV RASO'] Submitted by me is an original research work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

Deepshikha Singh.
DEEPSHIKHA SINGH
(Research Scholar)

DR. OMPRAKASH SINGH
(SUPERVISOR)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. KRISHNASWAMY NACHI MUTHU
(CHAIRPERSON)
CIL/SLL&CS/JNU

कष्ट हृदय की कसौटी है,
तपस्या अग्नि है ...

- जयशंकर प्रसाद

समर्पण

स्व. 'बाबा' और स्व. 'नाना' जी को
जिनकी उम्मीद मेरी प्रेरणा बनी

अनुक्रम

पृष्ठ सं.

भूमिका i-v

प्रथम अध्याय – संदेशरासक और बीसलदेवरास : संक्षिप्त परिचय 1–33

1. रास, रासो एवं रासक
2. लौकिक प्रेम एवं संदेश समन्वित रास काव्य
3. संदेश काव्य परम्परा
4. संदेशरासक : रचना और रचनाकार
5. काल निर्धारण
6. अंतर्वस्तु
7. बीसलदेवरास : रचना एवं कथ्य
8. नायक एवं रचनाकाल
9. कथ्य की विशेषता

द्वितीय अध्याय – संदेशरासक और बीसलदेवरास में विरह–वर्णन 34–77

1. संदेशरासक में विरह–वर्णन : अंतर्वस्तु
2. संदेशरासक में विरह–वर्णन : शिल्प–विधान
3. बीसलदेवरास में विरह–वर्णन : अंतर्वस्तु
4. बीसलदेवरास में विरह–वर्णन : शिल्प विधान

तृतीय अध्याय – विरह–वर्णन और प्रकृति 78–109

1. साहित्य में प्रकृति
2. संदेशरासक में प्रकृति
3. बीसलदेवरास में प्रकृति

चतुर्थ अध्याय – संदेशरासक और बीसलदेवरास के विरह–वर्णन में साम्य और वैषम्य 110–130

1. कथावस्तु
2. वर्णन–प्रणाली
3. प्रभाव

उपसंहार : 131–136

संदर्भ–ग्रंथ सूची 137–139

आधार–ग्रंथ

सहायक ग्रंथ

भूमिका

नौवीं कक्षा में पढ़ते हुए पहली बार 'रासो' शब्द सुनने को मिला। उस समय सिर्फ इतना पता चला था कि आदिकाल में 'रासो' लिखे गये। पाँच रासो ग्रंथों और उनके रचनाकारों के नाम याद करते–करते इस शब्द के प्रति आकर्षण हुआ था। हालाँकि बी.ए. में पहुँचने तक इस शब्द का ज्ञान और आकर्षण वहीं तक सीमित रहा। बी.ए. में हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ने पर पता चला कि आदिकाल में सिर्फ रासो ही नहीं लिखे गये बल्कि अन्य रचनाएं भी हुई हैं। उसी दौरान 'संदेशरासक' के विषय में पढ़ने को मिला, लेकिन इसके विषय में भी जानकारी सीमित थी। रासो शब्द का आकर्षण अब 'संदेशरासक' में आ गया था। उस समय मेरे आकर्षण का केन्द्र 'संदेशरासक' शब्द ही था रचना नहीं। इसीलिए बी.ए. तक मैं संदेशरासक नहीं पढ़ पायी लेकिन मन में यह बना रहता था कि कभी न कभी 'संदेशरासक' जरूर पढ़ूँगी। रासो और संदेशरासक के प्रति आकर्षण बने रहने के बावजूद आदिकाल के प्रति मेरी कोई खास रुचि हिन्दी साहित्य को पढ़ते हुए नहीं बनी। बी.ए. में मेरा एक अन्य विषय 'कला का इतिहास' था। इस विषय को पढ़ते हुए हिंदी साहित्य के आदिकाल में मेरी रुचि धीरे–धीरे बढ़ती गयी। तत्कालीन स्थापत्य कला और सामाजिक परम्पराओं को पढ़ते हुए उस समय की राजनीतिक उथल–पुथल और उनका कला पर पड़ने वाले प्रभाव से मैं परिचित हुई। भारतीय इतिहास के मध्यकाल, खासतौर से तेरहवीं सदी के पूर्व निर्मित स्थापत्यों के विषय में पढ़ते हुए बार–बार एक बात उभर कर सामने आती थी। पूरे भारत के मंदिर–स्थापत्य में एक प्रकार की लयात्मकता दिखायी देती है। मंदिर स्थापत्यों की बाह्य डिजाइन तो एक–दूसरे से भिन्न और अपने स्थान–विशेष के अनुरूप है लेकिन मूर्तियों के रूप में उन पर उत्कीर्ण जन–जीवन के दृश्य लगभग एक से हैं। उनमें एक आंतरिक तारतम्यता बनी हुई है। जन–जीवन के उन दृश्यों को साहित्य में भी ढूँढने का उपक्रम इतिहास के इस विभाग में किया गया है। कई बार यह भी पता चला कि किसी ऐतिहासिक घटना या किसी साहित्यिक प्रसंग के आधार पर भी स्थापत्यों पर मूर्तियों को उत्कीर्ण किया गया है। उस समय और आज भी मेरे लिए यह बहुत उत्सुकता का विषय है। उन स्थापत्यों पर उत्कीर्ण जन–जीवन का अध्ययन करने के साथ ही तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं में भी इसे ढूँढने की मेरी इच्छा हुई। एम.ए. में अपभ्रंश साहित्य पढ़ते हुए इस इच्छा को विस्तार मिला। उसी समय यह भी स्पष्ट हुआ कि कला के अन्य माध्यमों के समान साहित्य में भी वह जन–जीवन पूरी तरह विद्यमान है। इससे पहले आदिकाल की विशेषता के संदर्भ में प्रचलित दो प्रवृत्तियों – वीर

और शृंगार – तक ही मेरी समझ सिमटी हुई थी।

उसी समय संदेशरासक के कुछ अंशों को भी पढ़ने का अवसर मिला। धर्म और राज के आवरण से पूरी तरह मुक्त साधारण स्त्री के जीवन के एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग पर लिखी जाने वाली यह रचना तत्कालीन साहित्य में अपना एक अलग स्थान रखती है। अपभ्रंश साहित्य में 'संदेशरासक' एकमात्र पूर्ण लौकिक संदेश काव्य है। इस कोटि की अन्य रचनाओं में 'बीसलदेवरास' और 'ढोला–मारू रा दूहा' का नाम लिया जा सकता है। भारतीय–साहित्य में संदेश–काव्यों की कमी नहीं है। 'मेघदूत' से लेकर आधुनिक हिन्दी साहित्य तक ऐसे अनेक काव्य हैं जिनकी रचना का आधार संदेश प्रेषण है। 'संदेशरासक' से पहले की अपभ्रंश रचनाओं में भी कहीं–कहीं संदेश का उल्लेख मिलता है। 'पउमचरिउ' में मंत्री और दूत के माध्यम से संदेश भेजा गया है। 'मुंज' से संबंधित दोहों में भी इस प्रकार का संकेत है, लेकिन मुकम्मल संदेश–काव्य के रूप में 'संदेशरासक' ही अपभ्रंश की पहली रचना है। संस्कृत और अपभ्रंश से विकसित संदेश–वर्णन की प्रवृत्ति भक्तिकाल तक आते–आते विरह–वर्णन की मुख्य संवेदना बन गयी है। इसे नागमती के विरह–वर्णन, सूर की गोपियों और उद्धव के संवाद या रीतिकालीन नायिकाओं के कथन में देखा जा सकता है। संदेश भेजने का क्षण ऐसा है जहाँ स्त्री अपनी स्थिति का वर्णन करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है। अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता के कारण ही 'संदेश' विरह–काव्य का संवेदनात्मक अंग बन जाता है।

संदेशरासक के लगभग डेढ़–दो सौ वर्षों बाद 'बीसलदेवरास' लिखा गया। इन दोनों रचनाओं के केन्द्र में 'शृंगार' है। अन्य आदिकालीन रचनाओं के समान दूसरे भावों जैसे – वीर या भक्ति के साथ शृंगार का सम्मिश्रण इनके रचनाकारों का इष्ट नहीं रहा। शृंगार भाव और उसमें भी वियोग–पक्ष को लेकर ही दोनों रचनाओं का ताना–बाना बुना गया है। संदेशरासक और बीसलदेवरास दोनों की भावभूमि प्रेम की निश्छल अभिव्यक्ति से परिपूर्ण है।

इन रचनाओं की भावभूमि में समानता के बावजूद इनमें पर्याप्त भिन्नता भी है। कथानक के स्तर पर दोनों रचनाओं का ढाँचा एक–दूसरे से बिल्कुल अलग है। संदेशरासक में कथा बहुत छोटी–सी है। बीसलदेवरास में कथा का विस्तार संदेशरासक से अधिक है। संदेशरासक में नायिका की विरह–व्याकुल चेष्टाओं के वर्णन के बाद उसकी छोटी–सी कथा सामने आती है कि उसका पति व्यापार करने के लिए खम्भात चला गया है। बीसलदेवरास में राजमती के विरह–वर्णन से पहले ही पूरी कथा सामने आ गई है। राजमती मालवा के भोज परमार की पुत्री है। उसका विवाह साँभर के बीसलदेव से होता

है। एक दिन राजमती बीसलदेव को उसकी आत्मप्रशंसा पर टोक देती है। इस पर उससे नाराज होकर बीसलदेव उड़ीसा चला जाता है। यहीं से राजमती का विरह–वर्णन शुरू होता है।

कथानक के साथ ही दोनों रचनाओं की नायिकाओं की अपनी वर्गगत स्थिति में काफी फर्क है। संदेशरासक की नायिका व्यापारी–वर्ग से है तो बीसलदेवरास की राजमती राजसी वर्ग से। सामंती समाज के दो भिन्न–भिन्न वर्गों से होने के कारण दोनों नायिकाओं की विरह–व्यंजना में मनोवैज्ञानिक अंतर हो गया है।

संदेशरासक और बीसलदेवरास के रचनाकारों अब्दुलरहमान और नरपति नाल्ह की अपनी परम्परा–प्राप्त रचनात्मक विशेषताओं का प्रभाव उनकी वर्णन–प्रणालियों पर पड़ा है। रचनाकारों की वर्ग–विशेषता से दोनों रचनाएँ पूर्णतः प्रभावित हैं। दोनों रचनाओं में शैलीगत अंतर का मुख्य कारण यही है।

विरह–वर्णन में प्रकृति–चित्रण की परम्परा संस्कृत काव्यों से लगभग उसी रूप में हिन्दी में भी चली आयी है। इस संदर्भ में प्रकृति मुख्यतः दो रूपों में आती है – उद्दीपन और आलम्बन। संस्कृत–साहित्य में स्वच्छंद प्रकृति–वर्णन की भी परम्परा रही है जिसे वेदों, उपनिषदों के साथ ही वाल्मीकि, कालिदास आदि कवियों के यहाँ देखा जा सकता है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में स्वतंत्र प्रकृति–चित्रण का अभाव होता गया। प्रकृति–वर्णन भी साहित्य के अन्य क्षेत्र की भाँति काव्यशास्त्रीय नियमों के आधार पर होने लगा। संस्कृत साहित्य में प्रकृति–वर्णन की इस रूढ़ प्रवृत्ति का प्रभाव उस समय की हिंदी कविता पर भी पड़ा। संदेशरासक और बीसलदेवरास में प्रकृति का चित्रण क्रमशः 'षड्ऋतु–वर्णन' एवं 'बारहमासा' के माध्यम से हुआ है। दोनों रचनाओं में प्रकृति–वर्णन उद्दीपन के रूप में आया है। फिर भी प्राकृतिक वस्तुओं, व्यापारों की स्वाभाविक झाँकियाँ दिखाकर नायिकाओं के हृदय में स्थित भावों की व्यंजना ही इष्ट है।

आदिकालीन रचनाओं में प्राप्त विभिन्न काव्य रूपों और विभिन्न कथोद्देश्यों का तुलनात्मक विश्लेषण ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय आधार पर लगभग नहीं के बराबर हुआ है। इस क्षेत्र पर विचार करने से आदिकालीन साहित्य और अधिक स्पष्ट रूप में सामने आयेगा। लघु–शोध–प्रबंध में चार अध्यायों के अंतर्गत संदेशरासक और बीसलदेवरास की मुख्य संवेदना विरह–वर्णन का यथासम्भव तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

पहले अध्याय में संदेशरासक एवं बीसलदेवरास का संक्षिप्त परिचय देते हुए रास–काव्य–परम्परा, आदिकालीन लौकिक साहित्य और संदेशकाव्य–परम्परा पर बात की

गयी है। दूसरे अध्याय में संदेशरासक एवं बीसलदेवरास में विरह–वर्णन के स्वरूप को अंतर्वस्तु एवं शिल्प दोनों स्तरों पर स्पष्ट किया गया है। तीसरे अध्याय में दोनों रचनाओं में प्रकृति वर्णन के स्वरूप पर बात की गयी है। चौथे अध्याय में कथानक, वर्णन–प्रणाली एवं प्रभाव के स्तर पर संदेशरासक एवं बीसलदेवरास के साम्य और वैषम्य को दिखाया गया है।

यह समस्त अध्ययन मेरे शोध–निर्देशक डॉ. ओमप्रकाश सिंह की वजह से संभव हो सका। उनका स्नेह लगातार बना रहा इसी कारण मैं अपने विचारों को बिना किसी झिझक के उनके सामने रख पाती थी। विचारों को सही तर्कों के आधार पर परखना और उसे सही अभिव्यक्ति प्रदान करना उन्होंने ही सिखाया। अभिव्यक्त विचार को सही भाषा में ढालने का सारा श्रेय उन्हीं को जाता है।

प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी, प्रो. अवधेश प्रधान और प्रो. सदानंद साही के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। इन लोगों से की गयी विषय–सम्बंधित बातचीत ने मेरा मार्गदर्शन किया।

अभी तक मेरी जो थोड़ी बहुत साहित्यिक समझ विकसित हुई है उसमें सर्वाधिक योगदान डॉ. आशीष त्रिपाठी का है। साहित्य से संबंधित हर बार की बातचीत में मैंने उनसे कुछ न कुछ सीखा है। खासतौर से प्रतिरोधात्मक साहित्य को समझने की दृष्टि आशीष सर और रामाज्ञा सर से मिली।

मम्मी–पापा ने जीवन देने के साथ ही जीवन–जीना भी सिखाया। बिना किसी भय के जीवन–जीने और अपना निर्णय लेने की क्षमता का विकास उनके द्वारा ही किया गया है। आज यह लिखते हुए पता नहीं क्यों मन बहुत भावुक होता जा रहा है ...

सुशील, विशाल और नीलेश ने अपना पूरा सहयोग दिया। सामग्री–संकलन से लेकर भावनात्मक स्तर तक ये हमेशा मेरे साथ रहे। आगे भी ये ऐसे ही मेरा सहयोग करेंगे, ऐसी अपेक्षा है।

नागरी प्रचारिणी सभा के अमलेश जी का मैं बहुत–बहुत आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने विषय से संबंधित कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें मुझे सहजता से उपलब्ध करवाईं।

संदीप भैया और रामानन्द ने पूरे शोध–कार्य के दौरान हर स्तर से मेरा सहयोग किया। लेकिन मैं इन्हें धन्यवाद देकर इनके सहयोग का मूल्य कम नहीं करना चाहती। आगे भी मेरे प्रति इनका ऐसा ही स्नेह बना रहे।

राजमणि भैया और प्रफुल्ल ने मेरे शोध–कार्य में अपना अपेक्षित सहयोग दिया। इनके प्रति धन्यवाद-प्रदर्शन औपचारिकता होगी।

पवन, पुलक, विजय भैया, रामनरेश, प्रिया, अविनाश, संदीप, अजय, आशुतोष और अनिरुद्ध सर जैसे दोस्तों के मूक सहयोग के प्रति आभारी हूँ जिनके साथ रहते हुए हमेशा एक स्वस्थ वातावरण मिला।

सीतू, प्रीति और नमिता को बहुत–बहुत धन्यवाद जिनके व्यवहार ने मेरे व्यक्तित्व को एक अलग तरह की मजबूती प्रदान की; जो मुझे यहाँ तक पहुँचाने में सहायक हुआ।

सनी, शालू, टिंकू और गोलू के मेरे प्रति प्यार और सम्मान की मेरे निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इनके प्रति अविरल स्नेह !

आकाश यादव जी को मैं अंतर्मन से धन्यवाद देना चाहती हूँ जिन्होंने मेरे शोध–कार्य को पूर्णता प्रदान की।

दिनांक 16/07/2011 **दीपशिखा सिंह**

प्रथम अध्याय

संदेशरासक और बीसलदेव रास : संक्षिप्त परिचय

1.1 रास, रासो एवं रासक

1.2 लौकिक प्रेम एवं संदेशसमन्वित रास काव्य

1.3 संदेश–काव्य परम्परा

1.4 संदेशरासक : रचना और रचनाकार

1.5 काल–निर्धारण

1.6 अंतर्वस्तु

1.7 बीसलदेवरास : रचना एवं कथ्य

1.8 नायक एवं रचनाकाल

1.९ कथ्य की विशेषता

1.1 रास, रासो एवं रासक

अपभ्रंश साहित्य में रास, रासो और रासक तीन शब्द मिलते हैं। कहीं इन शब्दों को एक–दूसरे का पर्याय माना गया है तो कहीं इनके अर्थ में भेद किया गया है। नरोत्तम स्वामी के अनुसार वीर रस युक्त काव्य रासो है और वीररसेतर काव्य रास। वैसे एक ही रचना को रास और रासक कहने की परम्परा भी बहुत पहले से ही चली आ रही है। इस सम्बन्ध में डॉ. दशरथ ओझा ने लिखा है –

"'उपदेश रसायन रास' को कवि रास की कोटि में रखता है और उसी रास की वृत्ति के आरम्भ में वृत्तिकार जिनपालोपाध्याय (सं. 1295 वि.) इसे रासक अंकित करते हैं –

चर्चरीरासकप्रख्ये प्रबन्धे प्राकृते किल।
वृत्तिप्रवृत्ति नाधत्ते प्रायः कोऽपि विचक्षणः।।
प्राकृतभाषया धर्मरसायनाख्यो रासकश्चक्रे।"[1]

इसी प्रकार 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' को 'रासहं' और रासउं' दोनों कहा गया है। 'रेवंतगिरिरास' को भी 'रासु' कहा गया है। 'नेमिरास' और आव्रास' जिनका रचनाकाल 13वीं शताब्दी है; इन दोनों को भी 'रासो' सम्बोधित किया गया है।

वस्तुतः रास, रासो और रासक में कोई विशिष्ट भेद नहीं है। रास या रासक की ऐतिहासिकता पर विचार करें तो इस शब्द की उत्पत्ति संस्कृत साहित्य से है। संस्कृत से अपभ्रंश तक रास या रासक का क्रमिक विकास हुआ है। संस्कृत साहित्य में दस रूपक एवं अनेक उपरूपक लिखे गये। इनमें आरम्भ में रास या रासक नाम से रूपक का कोई भेद या उपरूपक नहीं मिलता है। हालांकि 'अग्नि–पुराण' के 328वें अध्याय में नाटक के 27 भेदों में रासक नाम मिलता है।

प्रस्थानं भणिका भाणी गोष्ठी हल्लीशकानि च।
काव्यं श्रीगदितं नाट्यरासकं रासकं तथा।।[2]

यहाँ पर भी उसके लक्षण आदि की कोई चर्चा नहीं की गयी है और न तो इसे उपरूपक का नाम ही दिया गया है। 'हरिवंशपुराण' में भी 'रास' का अस्पष्ट उल्लेख है –

एवं स कृष्णो गोपीनां चक्रवालैरलंकृतः।
शारदीसु सचन्द्रासु निशासु मुमुदे सुखी।।[3]

टीकाकार नीलकंठ ने 'चक्रवालैः' से 'रासक्रीड़ा' का अर्थ लिया है। विष्णु–पुराण

में रास का वर्णन गोपालों के नृत्य के रूप में मिलता है –

ततः कांचित् प्रियालापैः कांचिद्भ्रूभंगवीक्षितैः।
निन्येऽनुनयमन्यां च करस्पर्शेन माधवः।।
ताभिः प्रसन्नचित्ताभिः गोपीभिस्सह सादरम्।
ररास रासगोष्ठीभिरूदारचरितो हरिः।।
रासमण्डलबन्धोऽपि कृष्णपार्श्वमनुज्झता।।
गोपीजनेन नैवाभूदेकस्थानस्थिरात्मना।।
हस्तेन गृह्य चैकैकां गोपीनां रासमण्डलम्।
चकार तत्करस्पर्शनिमीलितदृशं हरिः।।[4]

नाट्यशास्त्र के 18वें अध्याय में लास्य के दस अंगों का वर्णन है लेकिन रासक नाम का उल्लेख नहीं है। 'भावप्रकाश' में 'शारदातनय' ने नृत्य के बीस भेदों को रूपक के अवांतर भेद में सम्मिलित किया है –

दशरूपेण भिन्नानां रूपकाणामतिक्रमात्।
अवान्तरभिदाः कश्चित्पदार्थाभिनयात्मिकाः।।
ते नृत्यभेदाः प्रायेण संख्यया विशंतिर्मताः।[5]

आगे की पंक्तियों में शारदातनय ने रासक को 'भाणवत्' कहा है –

डोम्बीश्रीगदितं भाणो
भाणी प्रस्थान रासकाः।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य
भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत्।।[6]

यह उद्धरण नृत्यभेद का है लेकिन नृत्य के इन भेदों को भी 'उपरूपक' की संज्ञा नहीं दी गयी है। शारदातनय ने नाट्यरासक को उपरूपक और रासक को नृत्य के अंतर्गत रखा है। संस्कृत साहित्य में रास या रासक का सम्बन्ध नृत्य से है। 'बाणभट्ट' के 'हर्षचरित' में रास को एक विशिष्ट नृत्य के रूप में वर्णित किया गया है। हर्षचरित के चतुर्थ उच्छ्वास में बाणभट्ट ने 'रासकमण्डल' की तुलना आवर्त से की है –

"क्वचिन्नृपाबला बलात्कारनर्त्यमाननृत्यस्यानभिज्ञान्तः पुरपालभावितभुजिष्य सपर्वत इव कुसुमराशिभिः सधारागृह इव सीधुप्रपाभिः, सनन्दन वन इव पारिजातकादैः सनीहार इव कर्पूररेणुभिः साट्टहास इव पटहरवैः सामृतमंथन इव महाकलकलैः सावर्त इव रासकमण्डलैः, सरोमांच इव भूषणमणि किरणैः ... इत्यादि।"[7]

हर्षचरित के चौथे उच्छ्वास में ही 'अश्लील रासक पदानि' का उल्लेख वर्णन के उसी क्रम में आया है –

"पदे पदे झणझणित भूषणरवैरपि सहृदयैरिवानुवर्तमानतालल्याः, कोकिला इव मदकलकाकली कोमलालापिन्यो विटानां कर्णामृतान्यश्लील रासकपदानिगायन्त्यः।"[8]

वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'अश्लील रासक पदानि' का अर्थ स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले गीतों से लिया है।[9] इससे स्पष्ट होता है कि रास का सम्बन्ध नृत्य के साथ ही गेय तत्त्वों से भी रहा है। इसकी गेयता का प्रमाण 'श्रीमद्भागवत्' के श्लोकों में भी मिलता है –

पादन्यासैर्भुजविधृतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै –
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः।।[10]

भागवत् के ही एक अन्य श्लोक में 'रास' के साथ गाये जाने वाले 'ध्रुपद' का स्पष्ट वर्णन है –

काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च वह्वदात्।।[11]

समय के साथ रास में नृत्य की अपेक्षा गेय–तत्त्वों की प्रधानता होने लगी। डॉ. दशरथ शर्मा के अनुसार –

"श्रव्य रास की भी 11वीं शताब्दी तक उत्पत्ति हो चुकी थी। चर्चरी और रासनृत्यों के साथ लोग अनेक प्रकार की देश्यभाषा में रचित गीतियाँ गाते। यही गीतियाँ चर्चरी और रास के नाम से प्रसिद्ध हो चलीं।"[12]

'अभिनवभारती' में भी रासक की चर्चा है लेकिन वहाँ भी उसे उपरूपक का स्थान नहीं प्राप्त है। 'भोजराज' के 'सरस्वतीकंठाभरण' में भी रासक को उपरूपक के नजदीक का स्थान प्राप्त है लेकिन उपरूपक के रूप में पूर्णतः स्थापित नहीं किया गया है। 'हेमचंद्र' ने 'काव्यानुशासन' में रासक को गेय काव्यों के अंतर्गत रखा है। इससे स्पष्ट होता है कि संस्कृत–साहित्य और काव्यशास्त्रों में 'रासक' जहाँ नृत्य एवं नाट्य दो रूपों में मिलता है, वह हेमचंद्र तक आते–आते मुख्यतः गेय–काव्य के रूप में व्यवहृत होने लगा

था। आगे चलकर 'आचार्य विश्वनाथ' ने 'साहित्यदर्पण' में रासक को स्पष्ट रूप से उपरूपक की कोटि में रखा है।

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के अतिरिक्त अपभ्रंश में भी रास या रासक के लक्षण मिलते हैं। 'विरहांक' रचित 'वृत्तजाति समुच्चय' और 'स्वयंभू' के 'स्वयंभूछन्दस्' में इसके उदाहरण प्राप्त होते हैं। 'वृत्तजाति समुच्चय' में प्राप्त दोहा इस प्रकार है –

"अडिलाहिं दुवहएहि व मत्तारड्डहि तह अ ढोसाहिं।
बहुएहिं जो रइज्जई सो भण्णइ रासो णाम।।"[13]

जिस रचना में अडिल्ला, दूहा, मात्रा, रड्डा और ढोसा आदि छंद अधिकता में आये वह 'रासक' कहलाती है। विरहांक ने ही स्पष्ट किया है कि उस समय के काव्य–समाज में दो प्रकार के रासक–काव्यों का प्रचलन था और दोनों में कुछ स्वरूपगत अंतर थे। पहले प्रकार का रासक विभिन्न प्रकार के छंदों वाला वह गीति–काव्य होता था, जिसमें 'विस्तारिक' या 'द्विपदी' होता है और जिसका समापन 'विदारी' से होता है –

"वित्थारिआणुमएण कुण दुजईछन्दोणुमएव्व मुण।
इय रासअ सुअणु मणोहरए वेआरिअसत्तत्थक्खरए।।"[14]

और दूसरे प्रकार के रासक की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। 'स्वयंभूछन्दस्' में 'रास' का लक्षण इस प्रकार दिया गया है।

"धत्ताछड्डणिआहिं पद्धडिआ(हिं) सुअण्णरूएहिं।
रासाबन्धो कव्वे जणमणअहिरामओ होई।।"[15]

धत्ता, छड्डणिआ, पद्धड़िया तथा ऐसे ही अन्य सुंदर छंदों से युक्त रासाबंध–काव्य जन–मन के लिए अभिराम होता है। स्वयंभू ने यह भी बताया है कि रासाबन्ध 21 मात्राओं का छंद होता है, जिसमें 14 मात्रा पर विराम होता है। इसमें लघु गति होती है तथा अवसान और विरति की सुंदरता के कारण यह अभिराम तथा मधुर होता है –

"एक्कवीसमत्ताणिहणउ उद्दामगिरू चउदसाइ विस्साम होम(इ) गणविरइथिरू।
रासाबन्धु समिद्धू एउ अहिरामअरू लहुअतिअलवसाणविरइ अ(इ) महुर अरू।।"[36]

उत्तर अपभ्रंश काल तक 'रासक' रास नामक नृत्य से विकसित होते हुए उपरूपक की श्रेणी में स्थापित हो चुका था। अपभ्रंश–साहित्य में 'रासक' का तात्पर्य मुख्य रूप से गेयरूपक से था। कुछ विद्वानों के अनुसार रास को गेयरूपक मानना भ्रांति है।

रास केवल श्रव्य–काव्य थे, उनका अभिनय सम्भव नहीं था। डॉ. भोलाशंकर व्यास ने लिखा है –

"रासक का गीतिनाट्यों से सम्बन्ध जोड़ने से कुछ भ्रांति भी फैल गयी है। कुछ विद्वान 'संदेश रासक' को हिन्दी का प्राचीनतम् नाटक मान बैठे हैं। ऐसा मत–प्रकाशन वैचारिक अपरिपक्वता का द्योतक है। वस्तुतः भाँड़ों के द्वारा नौटंकियों में गाए जाने वाले गीतों के लिए रासक शब्द प्रयुक्त हुआ है, ठीक वैसे ही जैसे बनारस की कजली को हम नाटक का रूप मान सकें तो रासक भी नाटक कहा जा सकता है।"[17]

अनेक ऐसे प्रमाणिक उदाहरण मिलते हैं जिनके आधार पर काव्यशास्त्रियों ने रासक को गेयरूपक की श्रेणी में रखा है। 'उपदेश रसायन रास', 'समरारास', 'सप्तक्षेत्रि रास', 'जिनोदयसूरि पट्टाभिषेक रास' आदि में ऐसे प्रमाण प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर इन्हें अभिनेय माना जाना चाहिए। प्रो. मजुमदार ने इस सन्दर्भ में संदेश–रासक के लिए लिखा है –

"संदेश–रासक के सभी छंद गेय हैं और इसकी समस्त कथावस्तु अभिनेय है। इसलिए यह गेयरूपक है और नाटक की भाँति प्रत्यक्ष दिखाने के लिए ही लिखा गया था ऐसा तो उंसकी टीका से ही स्पष्ट दिखाई देता है। प्रथम गाथा के आरम्भ में टीकाकार कहते हैं –

ग्रंथप्रारम्भे अभीष्ट देवता प्रणिधानप्रधाना प्रेक्षवतां।
प्रवृत्तिरित्यौचित्यात् सूत्रस्य प्रथम नमस्कार गाथा।।"[18]

जैन ग्रंथों में भी रास खेलने के उदाहरण मिलते हैं। 'खरतर गच्छ पट्टावली' नामक अप्रकाशित जैन ग्रंथ से पता चलता है कि तत्कालीन जैन मंदिरों में 'लगुडरास' नहीं खेला जाता था फिर भी सामान्य जन में किसी विशेष अवसर पर विभिन्न प्रकार के रासों को खेलने की योजना की जाती थी –

"किन्तु सब समय और सब तरह के रास वर्जित न थे। जैनाचार्य जब किसी नगर में प्रवेश करते या किसी प्रतिद्वन्द्वी को शास्त्रार्थ में पराजित करते, तो श्रावकगण प्रसन्न होकर अनेक रासों की योजना कर आनन्द मनाते।"[19]

ऐसा लगता है कि आरम्भिक रूप में रास नृत्य की एक शैली रही होगी जिसमें संगीत से अधिक अभिनेयता और अंगसंचालन की प्रधानता थी। कालांतर में रास विकसित होते हुए गेयता की ओर मुड़ गया। अब उसमें गेय–तत्त्वों का प्रभाव बढ़ता गया और अंत

में उसे गेय रूपक का स्थान प्राप्त हुआ। हेमचंद्र ने रासक की गणना गेय उपरूपकों में करते हुए लिखा है –

"गेयं डोम्बिका भाण प्रस्थान शिंगकभाणिका प्रेरक रामक्रीड़ हल्लीसक रासक गोष्ठी श्रीगदित राग काव्यादि।"[20]

टीका में इन गेय उपरूपकों के तीन प्रकार किये गये हैं –

(i) मसृण
(ii) उद्धत
(iii) मिश्र

डोम्बिका को शुद्ध मसृण और भाणक को उद्धत कहा गया है। मिश्र में मसृण और उद्धत का न्यूनाधिक मिश्रण होता था। प्रस्थान में उद्धत की मात्रा कम और शिंगक में अधिक रहती थी। ऐसे ही रामाक्रीड़ और हल्लीसक में उद्धत की मात्रा अधिक होती थी जिसमें थोड़ा बहुत मसृण का भी योग होता था। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में रासक को 'उद्धत–प्रधान गेय रूपक' कहते हैं। श्री हरिवल्लभ भयाणी ने अपभ्रंश के दोनों छंदशास्त्रियों विरहांक और स्वयंभू द्वारा दिये गये रास के लक्षणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि 'रासाबन्ध' में रासा छंदों की प्रमुखता थी। इस क्रम में डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है –

"किन्तु यह रासा छंद क्या है ? ज्ञात होता है कि रास में गान का तत्त्व निरन्तर बढ़ते रहने से उस विशिष्ट गान को ही लोग 'रासा' कहने लगे और उस गान का छंद 'रासा छंद' हो गया।"[21]

रासग्रंथों में 'रासा' छंदों की ही प्रमुखता है। संदेश रासक के 223 छंदों में 84 छंद 'रासा' ही हैं। इसके बाद क्रमशः गाहा, अडिल्ला, पद्धड़िया और दोहा आदि छंद आते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि संदेश रासक के रचनाकार ने अपभ्रंश के छंदशास्त्रियों द्वारा दिये गये लक्षणों के आधार पर अपने ग्रंथ की रचना की है। इससे यह स्पष्ट है कि लक्षण के आधार पर रास की रचना में छंद–वैविध्य आवश्यक है। 'बीसलदेव रास' जैसी कुछ ऐसी रचनाएं भी मिलती हैं जिनमें छंद–वैविध्य नहीं है। पूरी रचना राग में गाये जाने के लिए रची गयी है जिसमें आरम्भ से अंत तक एक ही प्रकार के गेय छंद का प्रयोग हुआ है। माताप्रसाद गुप्त ने बीसलदेव रास को 'अल्परूपक निबद्ध रास–परम्परा' में रखा है। यह रचना इस परम्परा में भी अपवाद स्वरूप ही है क्योंकि इस परम्परा की अन्य सभी रचनाएं धार्मिक जैन कृतियाँ हैं।

रास के इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि गेय–तत्त्वों की प्रधानता के बाद रास कई रूपों में विकसित हो रहा था। इसी का परिणाम है रास, रासक और रासो जैसे शब्द और इन पर विद्वानों के मतभेद। रास किसी एक निश्चित परिपाटी पर नहीं लिखा जा रहा था। शास्त्र और लोक दोनों स्तरों पर अपने–अपने विशिष्ट रूप में इसकी धारा प्रवाहित हो रही थी। नृत्य–गान प्रधान रास से रूपक तत्त्व–प्रधान रास विकसित हुए तत्पश्चात् उसमें संगीतात्मकता बढ़ती गयी। गेयता के साथ ही इसमें कथा तत्त्व भी बढ़ता गया। यही कारण है कि बाद के अधिकांश रासो ग्रंथ चरित–काव्यों के रूप में मिलते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार –

धीरे–धीरे इन शब्दों का प्रयोग कुछ घिसे अर्थों में होने लगा। जिस प्रकार 'विलास' नाम देकर चरित काव्य लिखे गये, 'रूपक' नाम देकर चरित काव्य लिखे गये, 'प्रकाश' नाम देकर चरित काव्य लिखे गये उसी प्रकार 'रासो' या 'रासक' नाम देकर भी चरितकाव्य लिखे गये।"[22]

रास जैसे लोक प्रचलित गेय रूपक में कथा की प्रधानता होने के साथ ही जैन साधु भी अपने उपदेशों के लिए किस्से–कहानियों को आधार बनाकर 'रासाबंध' रचने लगे। पश्चिमोत्तर भारत प्रेमपरक लोक–कथाओं के लिए प्रसिद्ध है। इसीलिए श्रृंगार–परक रासकों में इन निजंधरी प्रेम–कथाओं के संयोग–वियोग के गीत गाये गये। लोक प्रचलित होने के कारण चारणों द्वारा आश्रयदाता शासकों के वीरता का भी गुणगान रासो काव्यों में किया गया। हिन्दी साहित्य के वृहत इतिहास में इसी आधार पर रास–साहित्य को तीन धाराओं में विभाजित किया गया है –

(i) जैन मुनियों की साहित्य समन्वित नीति धर्मोपदेश की धारा
(ii) चरितकाव्य के रूप में लिखित रासो ग्रंथों की धारा
(iii) लौकिक प्रेम तथा संदेश समन्वित धारा

रास–काव्यों के मूल अंतर्वृत्तियों के आधार पर किया गया यह विभाजन तत्कालीन विभिन्न काव्य–धाराओं को समझने में सहायक है जो बाद की हिन्दी कविता में भी किसी न किसी रूप में प्रवाहित होती रहीं। विवेच्य दोनों ग्रंथ 'संदेशरासक' और 'बीसलदेव रास' तीसरी धारा के अंतर्गत आते हैं।

1.2 लौकिक प्रेम एवं संदेश समन्वित रास काव्य

इस धारा में मुक्तक एवं प्रबंध दोनों प्रकार की रचनाएं सम्मिलित हैं। इन रचनाओं में लौकिक प्रेम को बड़ी सहजता से अभिव्यंजित किया गया है। इनमें जीवन के

विस्तृत फलक पर संयोग और वियोग दोनों प्रेमदशाओं का मार्मिक चित्रण है। इस धारा की कविता में मुक्तक रूप में हेमचंद्र के 'सिद्धहेम शब्दानुशासन' के दोहे, सोमप्रभाचार्य के 'कुमारपाल प्रतिबोध' के दोहे और मेरूतुंग के 'प्रबंध चिंतामणि' के दोहे आते हैं। इन तीनों रचनाओं में बहुत से दोहे परमार शासक मुंज से सम्बन्धित हैं। इन दोहों को आधार बनाकर 'हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास' में 'मुंजरास' नामक प्रबंध–काव्य की कल्पना की गयी है, लेकिन अभी तक ऐसी कोई रचना प्राप्त नहीं हुई है। ऐसे कई प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि हेमचंद्र द्वारा शब्दानुशासन की रचना से पहले ये दोहे प्रचलित थे। ऐसा ही एक प्रचलित दोहा है :

बाह बिछोडवि जाहि तुहुं हंउ तेवँइ को दोसु।
हिअयट्विय जइ नीसरहि जाणउं मुंज सरोसु।।

इस दोहे के संदर्भ में पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने लिखा है –

"कम से कम यह तो मानना होगा कि यह दोहा सं. 1199 (रासो के कल्पित समय से 50 साल पहले) से किसी समय पहले की रचना है जिसे उस समय या तो स्वयं मुंज का रचित या किसी से मुंज को प्रेषित माना जाता था।"[23]

अपभ्रंश व्याकरण लिखते समय हेमचंद्र ने अपभ्रंश के दोहों का जो उदाहरण दिया है उस सन्दर्भ में गुलेरी जी ने आगे लिखा है –

"स्मरण रहे कि ये उदाहरण हेमचंद्र के अपने बनाए हुए नहीं हैं, कुछ वाक्यों को छोड़कर सब उससे प्राचीन साहित्य के हैं।"[24]

इस धारा में हेमचंद्र का महत्त्व इसलिए है कि उन्होंने अपने से पूर्व प्रचलित साहित्य के एक ऐसे भाग को जीवन दिया जो ऐसा न करने पर नष्ट हो जाता। 'प्रबंधचिंतामणि' की रचना सं. 1361 में 'वढवान' में जैन आचार्य मेरूतुंग द्वारा हुई। इस ग्रंथ की भाषा संस्कृत है। उसमें तत्कालीन प्रचलित भाषा की कविता की समझ है, साथ ही इस ग्रंथ की संस्कृत देश भाषाओं की उत्पत्ति और उसके विकास को भी समझने में सहायक है। इस ग्रंथ की कविता के संदर्भ में गुलेरी जी का मत है –

"सं. 1361 मेरूतुंग के इस चिंतामणि के संग्रह करने का समय है। कोई भी उद्धृत कविता उसने स्वयं नहीं रची हैं। कथाओं में प्रसंग–प्रसंग पर जो कविता उसने दी है वह अवश्य ही उससे पुरानी है। कितनी पुरानी है इसका ऊर्द्धतम समय तो स्थिर नहीं किया जा सकता, किंतु प्रबंधचिंतामणि की रचना का समय उसका निम्नतम उपलब्धि

काल अवश्य है। उससे पचास–साठ वर्ष पहले यह कविता लोककथाओं में प्रचलित हो या ऐसे घिसे सिक्के यदि सौ दो सौ वर्ष पुराने भी हों तो आश्चर्य नहीं।"[25]

कविताओं की प्रमाणिकता भले ही प्रबंधचिंतामणि में नहीं है लेकिन मेरूतुंग ने अपने समय की ऐतिहासिकता को इसमें प्रमाणिक रूप से सुरक्षित रखा है। भाषा और साहित्य की यह ऐतिहासिकता ही इसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

सोमप्रभ ने सं. 1241 में 'कुमारपाल प्रतिबोध' की रचना की। यह ग्रंथ मुख्यतः प्राकृत में लिखा गया है। इसमें कुछ कथाएं शुद्ध संस्कृत में हैं और कुछ अपभ्रंश में। कहीं–कहीं तो गद्य में भी प्राकृत के साथ पुरानी हिंदी के नमूने मिल जाते हैं। ग्रंथ की रचना शुद्ध एवं सरस प्राकृत में है फिर क्या कारण है कि उसमें साधारण बोलचाल की भाषा का प्रयोग है ? गुलेरी जी ने इस क्रम में लिखा है :

"वह कथाओं को रोचक बनाने के लिए, उन्हें सामयिक और स्थानिक रंग देने के लिए, अज्ञात और अप्रसिद्ध कवियों के दोहे बीच–बीच में रख रहा है जो सर्वसाधारण में प्रचलित थे। इन दोहों में कई हेमचंद्र के व्याकरण के उदाहरणों में हैं, कई प्रबंधचिंतामणि में हैं, कई जिनमंडल के कुमारपाल प्रबंध तक चले आये हैं।"[26]

ऐसी स्थिति में 'मुंजरास' नामक कल्पित ग्रंथ को एक ठोस आधार मिल जाता है। भले ही ऐसी कोई रचना रही हो या नहीं लेकिन ऐसी कुछ कविताएं जरूर रही होंगी जो सामान्य जन–जीवन में गहरे पैठी थीं। इन तीनों रचनाओं से सम्बन्धित जो मुक्तक मिले हैं वे श्रृंगारिक और वीरतापरक तो हैं ही कहीं–कहीं उनका विस्तार जीवन के नितांत यथार्थ धरातल में व्याप्त है। कहीं किसान–जीवन की सुंदर झाँकी मिलती है तो कहीं किसान के जीवन की त्रासदी से भी कविता का सामना हुआ है। संयोग–वियोग की चेष्टायें और सुंदरियों का दर्प ही इन कविताओं में नहीं है बल्कि सब कुछ नष्ट हो जाने के बाद जीवन का वास्तविक विषाद भी इन कविताओं में उसी रूप में मौजूद है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जैन रचनाकारों की रचना होने के बावजूद ये मुक्तक धार्मिकता के आवरण से पूर्णतः मुक्त हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि ये पूर्व–प्रचलित कविताएं हैं जिन्हें इन जैनाचार्यों ने एक मुकम्मल आधार प्रदान किया।

इस लौकिक धारा की कविता में पूर्ण प्रबंध–काव्य के रूप में भी कई रचनाएं मिलती हैं। 'संदेशरासक', 'बीसलदेव रास' और 'ढोला–मारू रा दूहा' इनमें प्रमुख हैं। पूर्ण लौकिक श्रृंगार रस की धारा को प्रवाहित करता हुआ एक अन्य ग्रंथ 'बसन्त–विलास' प्राप्त हुआ है। इसके रचनाकार का नाम अभी तक अज्ञात है। तत्कालीन गद्य के रूप में प्राप्त

कुछ रचनाओं में से 'राउलवेल' को भी इस धारा के अंतर्गत रखा जा सकता है। बसन्त–विलास और राउलवेल दोनों में शृंगार–प्रवाह तो पूर्ण रूप में है लेकिन नायिका के नख–शिख वर्णन और उन पर ऋतुओं के विलासपूर्ण प्रभाव तक ही सीमित है। इन दोनों रचनाओं में संयोग–वियोग का वह व्यापक विस्तार नहीं है जो संदेशरासक, ढोला–मारूरा दूहा या बीसलदेव रास में है। इस धारा के अंतर्गत ये तीन रचनाएं ही इसकी विशेषताओं को समेटे हुए प्रबंध–काव्य के रूप में मिलती है। सम्पूर्ण अपभ्रंश एवं हिन्दी साहित्य में ये तीनों रचनायें अपने आप में विशिष्ट हैं। इस श्रेणी का अन्य कोई ग्रंथ अब तक प्राप्त नहीं है।

1.3 संदेश–काव्य परम्परा

अपभ्रंश–साहित्य में संदेशरासक पहला पूर्ण लौकिक संदेश–काव्य है। भारतीय साहित्य में संदेश–काव्यों की परम्परा काफी पहले से ही रही है। संस्कृत–साहित्य में इसे दूत काव्य कहा गया है। इनका सम्बन्ध संस्कृत साहित्य में गीति–काव्यों से जोड़ा गया है क्योंकि इनमें गीति तत्त्व की प्रधानता है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में गीति–काव्यों के एक भेद के रूप में संदेशपरक गीतिकाव्य या दूत काव्य आता है। दूत काव्य से तात्पर्य ऐसी कविता से है जिसमें संदेशों का कथन काव्यात्मक ढंग से सहृदयतापूर्वक किया गया हो। सर्वप्रथम ऋग्वेद में दूत–संवादात्मक कथाओं के प्रसंग मिलते हैं। उदाहरण स्वरूप इन्द्र–इन्द्राणि, सरमा–पणि और यम–यमी के संवादों को लिया जा सकता है। दूत का कार्य करने वाला साधन चेतन या अचेतन दोनों हो सकता है। अचेतन रात को दूती बनाकर संदेश–कथन की सुंदर कल्पना सर्वप्रथम ऋग्वेद में ही की गई है। चेतन दूत के रूप में सरमा का उदाहरण भी उपलब्ध है लेकिन अचेतन रात्रि को दूत बनाने की यह सुंदर एवं मौलिक कल्पना विश्व साहित्य में सर्व प्रथम है। डॉ. जे.बी. चौधरी एवं डॉ. मंगलदेव शास्त्री जैसे दूत–काव्य मर्मज्ञ विद्वानों ने भी यह स्वीकार किया है कि दूतकाव्य का आदिस्रोत वैदिक साहित्य ही है।

वाल्मीकि रामायण में भी दूत द्वारा संवाद निरूपण हुआ है। यहाँ हनुमान संदेश–वाहक हैं जो राम का संदेश सीता तक पहुँचाने अशोक वाटिका में जाते हैं। इस प्रसंग की चर्चा कालिदास ने मेघदूत में की है। यक्ष मेघ से कहता है कि तुम मेरी प्रेयसी से इस प्रकार मिलना :

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धिमम्बुवाहं
तत्सन्देशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम्।

यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रास्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणि मोक्षोत्सुकनि।।[27]

तुम्हारे द्वारा ऐसा कहने पर मेरी प्रिया निश्चय ही उसी प्रकार उच्छ्वसित हृदय होकर आदरपूर्वक तुम्हारी ओर देखेगी जिस प्रकार हनुमान जी की ओर सीताजी ने बड़े चाव से आँखें उठायी थीं :

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छवसितहृदया वीक्ष्यं संभाव्य चैवम्।
श्रीष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमत्किंचिदूनः।।[28]

मेघदूत के टीकाकार मल्लीनाथ का मानना है कि मेघदूत के कथानक का प्रेरणास्रोत वाल्मीकि रामायण का यह प्रसंग ही है। उन्होंने लिखा है – "सीतां प्रति हनुमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघदूत संदेशं कविः : कृतवान।" राम–सीता के संदेश–प्रेषण के प्रसंग का वर्णन प्राकृत कवि प्रवरसेन ने भी किया है :

दिट्ठ त्तिण सद्दहिअं झीण त्ति सबाह–मंथरं णीससिअं।
सोभइ तुमं त्ति रूण्णं पहुणा जिअइ त्ति मारूई अवऊढ़ो।[29]

हनुमान के यह कहने पर कि उन्होंने सीता को देखा है, राम ने ध्यान नहीं दिया। हनुमान से यह सुनकर कि सीता क्षीण हो गयी हैं, अश्रु–गद्गद् कण्ठ के कारण राम ने धीमी साँस ली। किंतु हनुमान द्वारा यह कहने पर कि वह (सीता) तुम्हारा चिंतन करती है, राम रो पड़े और सीता के जीवित होने की सूचना सुनकर उन्होंने हनुमान को अपने हृदय से लगा लिया।

रामायण के बाद महाभारत में दूत–कर्म से सम्बन्धित कथा–प्रसंग मिलते हैं। श्रीकृष्ण को युधिष्ठिर ने अपना दूत बनाकर कौरवों की सभा में हस्तिनापुर भेजा था। महाभारत में ही 'नल–दमयन्ती' प्रसंग में भी परस्पर संदेश–प्रेषण की क्रिया हुई है। दोनों अपना संदेश हंस के द्वारा भेजते हैं। 'भागवत महापुराण' में एक स्थल पर गोपियाँ अपने विरह का निवेदन मेघ से करती हैं। रुक्मिणी द्वारा अपने अपहरण के निमित्त कृष्ण के समीप ब्रह्मदूत भेजना, मथुरा–प्रवासी कृष्ण द्वारा उद्धव को दूत रूप में गोकुल भेजना आदि अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ संदेश–कथन का उल्लेख है। 11वीं शताब्दी में श्रीहर्ष द्वारा रचित 'नैषधीयचरितम्' में भी संदेश–प्रेषण है। जो नल–दमयंती विरह के प्रसंग में आया है।

दूतकाव्यों का क्रमिक विकास हुआ। 'भास' ने दो संदेशपरक नाटक लिखे – दू'तवाक्य' एवं 'दूत घटोत्कच्च'। 'घटखर्पर' ने 'घटखर्पर काव्य' नामक संदेश–काव्य लिखा। 'महाकवि कालिदास' ने 'मेघदूत' की रचना की। संदेश–वर्णन के स्थल तो परम्परा से चले आ रहे थे लेकिन पूर्ण संदेश–काव्य के रूप में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सर्वप्रथम रचना 'मेघदूत' ही है। इसमें विरही यक्ष द्वारा अपनी प्रिया के प्रति संदेश–कथन है और संदेशवाहक है आषाढ़ के प्रथम दिवस का मेघ। भले ही आदिकवि ने संदेश–कथन की सुंदर योजना रामायण में की है लेकिन कालिदास का मेघदूत उनकी अपनी मौलिक उद्‌भावना है। इसे रामायण के विवेच्य स्थल से पूर्णतः प्रभावित मानना कहीं से भी सही नहीं है। 'बलदेव उपाध्याय' के अनुसार विरहविधुरा प्रेयसी के पास मेघ को प्रेम का संदेशवाहक दूत बनाकर भेजने की कल्पना विश्व–साहित्य में अपूर्व, कोमल और हृदयवर्जक है। मेघदूत के बाद चन्द्रदूत (जम्बू कवि 10वीं सदी), पवनदूत (कवि धोयी) जैसे महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले दूत–काव्य लिखे गये। 8वीं शताब्दी के जैन कवि जिनसेन की रचना 'पार्श्वाभ्युदय' में समस्यापूर्ति के ढंग पर मेघदूत की पंक्तियों का प्रयोग किया गया है क्योंकि तब तक जैन कवियों के यहाँ भी स्वतंत्र दूत काव्यों का आरम्भ हो चुका था।

इसके बाद तो संस्कृत–साहित्य में दूत–काव्यों की बाढ़ सी आ गयी। दूत–काव्यों को संस्कृत–साहित्य के इतिहास में चार वर्गों में विभाजित किया गया है। पहला वर्ग शृंगार परक दूतकाव्यों का है। इसमें मेघदूत (कालिदास), पवनदूत (कवि धोयी), पिकदूत (रूद्र न्याय वाचस्पति), कोकिल संदेश (उदण्ड कवि), पादपदूत (गोपेन्द्रनाथ गोस्वामी), कोकिल संदेश द्वितीय (श्री नृसिंह), चकोर संदेश, कोक संदेश (विष्णुदास), भृंग संदेश (श्री वासुदेव), मयूर संदेश (श्री रंगाचार्य), हंस संदेश (श्री वामन भट्‌ट), हृदयदूत (भट्‌टश्री हरिहर) आदि रचनाएं आती हैं। दूसरे वर्ग में रामकथापरक संदेश काव्यों को रखा गया है। इसमें भ्रमरदूत (श्री रूद्र न्याय वाचस्पति), चन्द्रदूत (श्री कृष्णचंद्र तर्कालंकार), पद्‌मदूत (श्री सिद्धनाथ), वातदूत (कृष्णनाथ न्याय पंचानन), हंस संदेश (श्री वेंकटेश) आदि काव्यग्रंथ सम्मिलित हैं। तीसरे वर्ग में कृष्णकथापरक संदेश काव्य आते हैं। इसमें अनिलदूत (रामदयाल तर्करत्न), पदांकदूत (श्रीकृष्ण सार्वभौम), तुलसीदूत (त्रिलोचन अथवा वैद्यनाथ भट्‌टाचार्य), उद्धवदूत (श्री माधव कवीन्द्र भट्‌टाचार्य), काकदूत (गौरगोपाल शिरोमणि), उद्धव–संदेश (रूप गोस्वामी), कीरदूत (श्री रामगोपाल), मनोदूत (श्री ब्रजनाथ) आदि रचनाएं प्रमुख हैं। चौथे वर्ग में आध्यात्मपरक दूतकाव्यों को रखा गया है। इन्दुदूत (विजय विनयाग्नि), चेतोदूत आदि रचनाएं इस वर्ग में आती हैं।

संस्कृत साहित्य में अब तक अस्सी के लगभग दूत काव्य मिल चुके हैं, लेकिन

उनमें आरम्भ से अंत तक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मेघदूत ही है। जो स्थान संस्कृत–साहित्य में मेघदूत का है वही स्थान अपभ्रंश एवं हिन्दी साहित्य में 'संदेशरासक' का है। संदेशरासक के पूर्ववर्ती अपभ्रंश रचनाओं में भी कहीं–कहीं संदेश का उल्लेख है। 'पउमचरिउ' में मंत्री और दूत के माध्यम से संदेश भेजा गया है। मुंज के दोहों में भी इस प्रकार के संकेत हैं। एक मुकम्मल संदेश–काव्य के रूप में संदेशरासक ही मेघदूत के बाद उसी प्रकार की दूसरी एवं अपभ्रंश–साहित्य की पहली रचना है।

वस्तुतः संदेश–काव्यों का प्रेरणास्रोत लोक–साहित्य है। संदेश की पूरी पृष्ठभूमि लोक से जुड़ी है। सामान्य जन–जीवन में ही परवशता है और इसी मजबूरी में संदेश का उदय होता है। जब यक्ष विवश है, अलकापुरी में न जा पाने के लिए अभिशप्त है तभी वह मेघ के द्वारा अपनी प्रियतमा को संदेश भेजता है, अन्यथा उसे इसकी क्या आवश्यकता पड़ती ? दमयंती जब हंस द्वारा संदेश भेजती है उस समय वह रानी नहीं बल्कि पति–वियोग में भटकती अत्यंत दुखिया स्त्री है। गोपियों और कृष्ण के बीच संदेश का जो आदान–प्रदान उद्धव के द्वारा हुआ है उसके मूल में भी विवशता है। भले ही यह विवशता स्वाभिमान की ही उपज क्यों न हो। संस्कृत में लिखे 'भ्रमरगीत काव्यम्' का पूरा रूप लोक से ही उभर कर आया है।

सामान्य जन–जीवन में ही कभी अर्थाभाव के कारण तो कभी किसी अन्य कार्यवश अपने देश और अपने लोगों से दूर जाने की विवशता अधिक रहती है। किसी राजा, रानी या शक्तिसम्पन्न को ऐसी किसी विवशता का सामना क्यों करना पड़ेगा ? यदि किसी कारणवश अपनों से वियोग की यह स्थिति उनके समक्ष उपस्थित भी होती है तो वहाँ पुनः लोक उपस्थित हो जाता है और सामान्य ही प्रधान हो जाता है। विरह के समय यक्ष में देवत्व के स्थान पर मनुष्यत्व की अधिकता है। सीता–वियोग में राम एक सामान्य मनुष्य मात्र रह गये हैं जो पशु–पक्षियों तक से सीता का पता पूछते हुए भटक रहे हैं। उनकी सर्वशक्तिसम्पन्नता इस स्थिति में नहीं दिखायी देती। विरहाकुल राम की इस स्थिति का वर्णन भवभूति ने सर्वाधिक मार्मिक रूप में किया है :

हा हा देवि ! स्फुटति हृदयं, ध्वंसते देहबंधः
शून्यं मन्ये जगतविरलज्वालामन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसी विधुरो मज्जीवान्तरात्मा
विष्वड्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि।।[30]

रत्नसेन के विरह में नागमती वही रूपगर्विता रानी नहीं रह जाती जिसने हीरामन तोते को मारने का आदेश दिया था। इस स्थिति में वह रोती है तो कोई ढाँढ़स

बंधाने वाला नहीं है। इस विकल अवस्था में सांत्वना देने वाला कोई नहीं है। उसके व्याकुल और मर्माहत कर देने वाले रूदन को सुनकर कोई उसके पास भी आने वाला नहीं है। इस हृदय विदीर्ण कर देने वाले रूदन को सुनकर सिर्फ पक्षी ही बोलते हैं और कोई नहीं। कोई कितना ही राजशक्ति–सम्पन्न हो, विरह और दुःख की अवस्था में सिर्फ उसका मनुष्यत्व ही जागृत रहता है। अपनी हैसियत भी वह एक सामान्य मनुष्य की ही समझता है इसीलिए समष्टि के समस्त उपदानों से उसका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। पुरुरवा जैसे वीर को विरह ने ही तो व्याकुल किया है अन्यथा उसे हंस या कोकिल को पुकारने की क्या जरूरत थी ? इतना प्रतापी राजा मेघ को देखकर न डर जाता।

कवि परम्परा में वियोग की दस दशाओं में से 'उन्माद' की व्यंजना के लिए इस प्रकार का आचरण दिखाया जाता है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है :

"इसका आविर्भाव प्रेमताप से पिघलकर फैले हुए हृदय में ही होता है। सम्बन्ध का मूल प्रेम है, अतः प्रेमदशा के भीतर ही मनुष्य का हृदय उस सम्बन्ध का आभास पाता है जो पशु, पक्षी, द्रुम, लता आदि के साथ अनादि काल से चला आ रहा है।"[31]

यही एक ऐसी स्थिति है जहाँ मनुष्य बिना किसी आवरण के अपने मूल रूप में सामने आता है। वह स्वयं को भी प्रकृति के अंग–रूप में महसूस करता है। इस विस्तृत और रहस्यमयी संसार में उसे अपनी वास्तविकता का ज्ञान होता है। उसे यह समझ में आ जाता है कि अन्य प्राकृतिक उपादानों के समान ही वह भी प्रकृति के निर्माण में योग देने वाला एक छोटा–सा साधन भर है। स्वयं को साध्य बनाने वाली प्रकृति लुप्त हो जाती है। वह समझ जाता है कि संसार की सबसे सुंदर और सर्वश्रेष्ठ कृति होने के बावजूद उसके संचालन की डोर अभी भी प्रकृति के हाथों में है। सामान्य होने का यह बोध होने के साथ ही मनुष्य स्वयं अपने सुख–दुख को संसार की सबसे छोटी कृति से भी जोड़ने लगता है। मनुष्य और समष्टिगत विभिन्न उपादानों का यह सम्बंध और अधिक स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है :

"जिस प्रकार जगत अनेक रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। इस अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है जबकि इनका प्रकृति सामंजस्य जगत् के भिन्न–भिन्न रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाए। इन्हीं भावों के सूत्र से मनुष्य–जाति जगत् के साथ तादात्म्य का अनुभव चिरकाल से करती चली आयी है। जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नर–जीवन के आरम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है।"[32]

आवरणरहित मनुष्यता की इसी भावभूमि पर विवेच्य दोनों ग्रंथों की रचना की गयी है। प्रिय से साक्षात्कार न हो पाने के कारण विवशता जन्य स्थिति में संदेश भेजने और उस संदेश में विरह की व्यापकता का मार्मिक चित्रण ही दोनों रचनाकारों का अभीष्ट है। प्रेम और उसके वियोग पक्ष को केन्द्र में रखकर दोनों रचनाओं का ताना–बाना बुना गया है।

1.4 संदेशरासक : रचना और रचनाकार

संदेशरासक का सम्पादन सर्वप्रथम पंडित श्री मुनिजिनविजय के द्वारा सन् 1945 ई. में सिंधी जैन ग्रंथमाला के अंतर्गत हुआ। इस ग्रंथ की विशद विवेचना हरिवल्लभ भयाणी ने की। मुनिजी को सर्वप्रथम सन् 1912 ई. में पाटन के जैन भंडारों में इस पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई। तत्पश्चात् सन् 1918 ई. में पूना के भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट के अंतर्गत राजकीय हस्तलेख संग्रह के जैन विभाग में दूसरी प्रति प्राप्त हुई। पहली प्रति में किसी भी प्रकार की संस्कृत व्याख्या या अवचूरिका नहीं थी लेकिन इस प्रति में मूल पाठ की संस्कृत छाया को 'अवचूरिका' नाम दिया गया था। सन् 1938 ई. के लगभग इस ग्रंथ की तीसरी प्रति मारवाड़ स्थित लोहावत के आचार्य श्री जिनहरि सागरजी के भंडार में मिली। इस प्रति की संस्कृत टीका भी उसमें थी। इन तीनों प्रतियों को आधार बनाकर मुनिजिनविजय ने 1945 में इस ग्रंथ का सम्पादन किया।

इसके बाद श्री अगरचंद नाहटा को बीकानेर से इस ग्रंथ की एक प्रति प्राप्त हुई। यह प्रति अपूर्ण थी और इसके साथ वर्तिका भी दी गयी है जो पूने वाली प्रति की अवचूरिका से मिलती है। जयपुर के लूणकर्ण पांड्या के श्री दिगम्बर जैन मंदिर से डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी को इसकी एक और प्रति प्राप्त हुई। इस प्रति की संस्कृत छाया भी पूने वाली प्रति की अवचूरिका से मिलती है। इस आधार पर डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने इन तीनों प्रतियों को एक ही व्यक्ति द्वारा लिखित माना है। द्विवेदी जी ने जब संदेश–रासक का सम्पादन किया तो उनके सामने इस ग्रंथ की पाँचों प्रतियाँ आ चुकी थीं।

ग्रंथ के आरम्भ में ही कवि ने अपना परिचय दिया है :

पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसो त्थि।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स।।
तह तणओ कुलकमलो पाइयकव्वेसु गीयविसयेसु।
अद्दहमाणपसिद्धो संनेहरासयं रइयं।।[33]

हजारीप्रसाद द्विवेदी और विश्वनाथ त्रिपाठी ने 'मिच्छदेस' का अर्थ आज के पाकिस्तान या उसी के आस–पास के किसी प्रदेश से लिया है। संदेशरासक में आने वाले तीनों नगर को मुनिजिनविजय ने भी जैसलमेर के आस–पास माना है। प्रस्तुत छंद के 'मिच्छदेस' के सन्दर्भ में विद्वानों में मतभेद है लेकिन जिनविजय और द्विवेदी जी तथा विश्वनाथ त्रिपाठी का मत तर्क और ऐतिहासिकता के आधार पर सबसे सही लगता है। दूसरा मतभेद रचनाकार अद्दहमाण या अब्दुलरहमान के धर्म को लेकर है। उद्धृत छंद में सीधे–सीधे रचनाकार ने अपने पिता का नाम 'मीरसेन' बताया है। अपनी जाति 'कौलिक' बतायी है। ईश–वंदना तथा ग्रंथ का समापन जिस रूप में किया है उससे रचनाकार का धर्म इस्लाम जान पड़ता है। इन्हीं आधारों पर विश्वनाथ त्रिपाठी ने निष्कर्षतः लिखा है :

"इस दृष्टि से विचार करने पर यह निश्चित हो जाता है कि अद्दहमाण मुसलमान थे और अपने मजहब के प्रति उनकी आस्था में कोई कमी नहीं थी।"[34]

1.5 काल–निर्धारण

संदेशरासक के काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। पहला मत मुनिजिनविजय का है। इन्होंने ग्रंथ को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखते हुए इसे 12वीं सदी के उत्तरार्द्ध या 13वीं सदी के पूर्वार्द्ध में लिखा माना है। संदेशरासक में वर्णित नगरों की समृद्धि के आधार पर मुनिजिनविजय ने यह निष्कर्ष दिया है। इन्होंने मुख्यतः खम्भात और मुल्तान की श्रीसमृद्धि से संदेशरासक का काल निर्धारण करते हुए दोनों नगरों की ऐतिहासिक जय–पराजय को सामने रखा है। इनके अनुसार संदेशरासक की रचना मुल्तान पर मुहम्मद गोरी के आक्रमण से पूर्व हुई है क्योंकि मुहम्मद गोरी के आक्रमण के बाद मुल्तान की श्री और समृद्धि लुप्त हो गयी, जो फिर कभी वापस न लौटी। विजयनगर की प्रोषितपतिका नायिका का पति धनार्जन के लिए खम्भात गया है। अतः खम्भात के सन्दर्भ में मुनिजी का मत है कि संदेशरासक की रचना उस समय की गई होगी जब खम्भात व्यापार का केन्द्र था। जहाँ देशभर के लोग व्यापार करने जाया करते थे। यह शहर चालुक्य राजा सिद्धराज और कुमारपाल के शासनकाल में अपने व्यापारिक विकास के चरम पर था। इनके अनुसार कुमारपाल की मृत्यु के पश्चात् अनहिल्लपुर कमजोर पड़ गया और राजनीतिक उथल–पुथल में खम्भात की समृद्धि भी नष्ट हो गयी। इन्हीं आधारों पर इन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि संदेशरासक की रचना 12वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 13वीं सदी के पूर्वार्द्ध में कभी हुई थी। गुलेरी जी ने भी 'पुरानी हिन्दी' में सिद्धराज का समय सम्वत् 1150–1199 और कुमारपाल का समय 1199 से 1230 तक दिया है।[35]

डॉ. कात्रे ने 'दि करनाटिक हिस्टोरिकल भाग–4' में अब्दुलरहमान का समय 11वीं से 14वीं शताब्दी के बीच माना है। अगरचंद नाहटा संदेशरासक की रचना विक्रम की 14वीं सदी में हुई मानते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी संदेशरासक की भाषा को आधार बनाते हुए इसे 12वीं से 13वीं शताब्दी में लिखा हुआ मानते हैं :

"हेमचंद्र ने काव्यानुशासन में दो प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा की है। एक तो शिष्ट जन की अपभ्रंश–भाषा जिसका व्याकरण स्वयं हेमचंद्राचार्य ने लिखा था और जो प्रधान रूप से जैन पंडितों के हाथों सँवरती रही। यह बहुत कुछ प्राकृत और संस्कृत की भाँति ही शिष्ट भाषा बन गयी थी। दूसरी ग्राम्य अपभ्रंश–भाषा, जो सम्भवतः चलती जबान थी, भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह अधिक अग्रसर हुई भाषा है। संदेश–रासक इसी प्रकार की अपभ्रंश में बारहवीं–तेरहवीं शताब्दी में – अर्थात् लगभग उसी समय जब पृथ्वीराज रासो लिखा जा रहा था – रचित हुआ था।"[36]

संदेशरासक के काल–निर्धारण का एक अन्य प्रयास द्विवेदी जी ने संदेशरासक की प्रस्तावना लिखने में किया है। यहाँ द्विवेदी जी के प्रयास का आधार निम्नलिखित दोहा है :

जा सस्स कव्वसत्ती सा तेण अलाज्जिरेण भणियव्वा।
जइ चउमुहेण भणियं ता सेसा मा भणिज्जंतु।।[37]

संस्कृत टीकाकारों ने 'चउमुहेण' का अर्थ ब्रह्मा बताया है लेकिन द्विवेदी जी ने इसका अर्थ अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि 'चतुर्मुख' लिया है और इसके प्रमाण में आगे की पंक्तियों को उद्धृत किया है :

णत्थि तिहुयणि जं च णहु दिट्ठ
तुम्हेहिं वि जं न सुउ, वियडवंधु सुच्छंधु सरसउ।
णिसुणेविणु को रहइ ललियहीणु मुक्खाह फरसउ।[38]

'तिहुयणि' का अर्थ द्विवेदी जी ने प्रसिद्ध कवि और स्वयंभू के पुत्र 'त्रिभुवन' से लिया है। 'चउमुह' के साथ आने वाले 'सेसा' का अर्थ स्वयंभू से लेते हुए द्विवेदी जी ने इनके प्रति कहे गये 'सुअ' और त्रिभुवन के प्रति कहे गये 'दिट्ठ' को अपने निष्कर्ष का आधार बनाया है। 'सुअ' अर्थात् सुना हुआ से तात्पर्य है कि स्वयंभू 'संदेशरासक' के रचनाकार से अधिक पूर्ववर्ती थे और त्रिभुवन के लिए 'दिट्ठ' अर्थात् देखा है का प्रयोग से द्विवेदी जी ने निष्कर्ष निकाला है कि त्रिभुवन अद्दहमाण से कुछ ही पूर्व या समसामयिक थे। इन्होंने आगे लिखा है :

"यदि त्रिभुवन का समय दसवीं शती का उत्तरार्द्ध हो, तो अब्दुलरहमान का समय ग्यारहवीं शती का पूर्वार्द्ध होना चाहिए।"[39]

द्विवेदी जी द्वारा किये गये काल–निर्धारण में स्पष्टता नहीं है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने कोई कारण दिये बिना ही संदेशरासक को 12वीं शताब्दी की रचना मान लेने की सलाह दी है –

"यद्यपि संदेशरासक के रचनाकाल को निर्धारित कर सकने वाले सबल प्रमाणों का अभाव है, फिर भी मुनिजी के तर्कों को न मानने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। संदेश–रासक का रचनाकाल 12वीं शती ईसवी के आस–पास मानने में कोई आपत्ति नहीं उपस्थित होती।"[40]

एक अन्य स्थान पर विश्वनाथ त्रिपाठी ने इसका रचनाकाल महमूद गजनवी के हमले से पूर्व माना है –

"महमूद गजनवी के हमले के पूर्व रचित अपभ्रंश काव्य 'संदेशरासक' के कवि ने अपने को 'कोलिय' कहा है।"[41]

यदि नगरों की समृद्धि के आधार पर संदेशरासक का काल निर्धारण करें तो अवश्य ही इस ग्रंथ की रचना ऐसे समय में हुई होगी जब वर्णित तीनों नगर विजयनगर, मुल्तान और खम्भात अपनी समृद्धि के चरम पर रहे होंगे और इनमें व्यापारिक सम्बन्ध भी रहा होगा। वर्णित तीनों नगरों का लगभग क्षेत्र चालुक्यों के राज्य में आता था। ये चालुक्य दक्षिण के चालुक्यों से भिन्न थे। इन्हें गुजरात के सोलंकी नाम से भी जाना जाता है। इस वंश के मूलराज प्रथम ने (लगभग 942–995 ई.) गुजरात के एक बड़े भाग को जीतकर 'अन्हिलवाड़' को अपनी राजधानी बनाया था। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सोलंकी अपने लगभग सभी पड़ोसियों से युद्ध में रत रहे। 11वीं सदी के प्रारम्भ में गजनी के महमूद का भारत अभियान शुरू हो जाता है। रोमिला थापर के अनुसार :

"सन् 1004–06 के दौरान उसने मुल्तान पर बारम्बार आक्रमण किया।"[42]

इस दौरान मुल्तान की तबाही का अन्दाजा लगाया जा सकता है। महमूद का यह अभियान लगभग 1025–26 तक चलता रहा। महमूद की मृत्यु के पश्चात् चालुक्य राज भीम और उसके पुत्र कर्ण का समय आता है। इनका चौहानों और परमारों से घोर संघर्ष होता रहा और उसके परिणाम भी इनके पक्ष में नहीं रहे। इनके पश्चात् सिद्धराज जयसिंह (लगभग 1094 से 1142) शासक बना। जयसिंह इस वंश का सर्वाधिक प्रतापी

शासक था। सिद्धराज पराक्रमी और वीर होने के साथ ही साथ कला और साहित्य का भी प्रेमी था। उसने अपने पूर्वजों द्वारा चौहानों और परमारों से हारे हुए राज्य को पुनः विजित करने के साथ ही उसकी सीमाओं का विस्तार भी किया। सिद्धराज के बाद कुमारपाल का समय (1153 से 1171 या 72) आता है। सिद्धराज के शासन के अंतिम दिनों में विद्रोह हो जाने के कारण राज्य का कुछ भाग उसकी अधीनता से निकल भी गया था। कुमारपाल को अपने शासन के प्रारम्भ में ही चौहानों, परमारों और मालवा के शासक से युद्ध करना पड़ा। दक्षिण के कोंकण पर विजय प्राप्त कर उसने अपने पराक्रम को सिद्ध किया लेकिन उसका समस्त शासनकाल संघर्ष का ही रहा। 1175 ई. में मुहम्मद गोरी का भारत पर पहला आक्रमण होता है, जिसमें मुल्तान पर उसका कब्जा हो जाता है। गोरी के आक्रमण की यह श्रृंखला 1192 के तराई के निर्णायक युद्ध तक अनवरत चलती रहती है। तत्कालीन परिस्थिति में किसी राज्य की श्रीसमृद्धि की कल्पना ही बेमानी है।

अतः सिद्धराज जयसिंह का समय ही वर्णित तीनों नगरों के इतिहास में ऐसा समय है जो उनकी समृद्धि की श्रेष्ठतम् अवस्था थी। इस श्रेष्ठतम् अवस्था में ही एक नगर का दूसरे नगर से व्यापारिक सम्बन्ध सम्भव है। इसका दूसरा पक्ष यह भी है कि जब कोई राज्य लम्बे समय तक अपने वीर एवं कला–साहित्य प्रेमी शासक के हाथों सुरक्षित रहता है तभी उसमें विकास की यह उन्नत अवस्था आती है। अब्दुलरहमान द्वारा संदेशरासक जैसी महत्त्वपूर्ण रचना के लिए इससे उपयुक्त समय और कोई नहीं था। अतः संदेशरासक की रचना सिद्धराज जयसिंह के ही समय में अर्थात् 12वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही हुई है।

1.6 अंतर्वस्तु

संदेशरासक का पूरा कथानक तीन प्रक्रमों में विभाजित है। यह पहला ऐसा ग्रंथ है जो प्रक्रमों में विभाजित है। प्रथम प्रक्रम की शुरुआत ईश्वर–वन्दना से होती है। तत्पश्चात् कवि अपना परिचय देता है। इसके बाद रचनाकार अपनी कृति के विषय में पाठकों से निवेदन करता है। यहीं प्रथम प्रक्रम समाप्त हो जाता है।

द्वितीय प्रक्रम में मूलकथा का वर्णन है। विजयनगर की एक सुंदर स्त्री है जिसका पति धनार्जन के लिए खम्भात चला गया है। वह विरह–दुःख से आर्त होकर रो रही है। तभी उसे एक पथिक दिखाई देता है जो अत्यंत तीव्र वेग से चला जा रहा है। नायिका उसे रोककर उसका गंतव्य पूछती है। यह जानकर कि पथिक खम्भात जा रहा है, नायिका अपने विरह की करूण गाथा उसे सुनाने लगती है। यहाँ पर रचनाकार द्वारा

निरन्तर संवाद की योजना की गयी है। यह मात्र विरहिणी का एकालाप नहीं है। पथिक और विरहिणी के मध्य संवाद–योजना इस संदेश–काव्य की विशेषता बन गयी है। संदेश सुनने के दौरान बीच–बीच में पथिक अपने शीघ्र गमन की इच्छा व्यक्त करता है। अपने समयाभाव और मार्ग की दुर्गमता व्यक्त करता है। इस पर विरहिणी द्वारा यह कह कर पथिक को रोकना कि मेरा संदेश सविस्तार है, तुम उतावले हो। हे पथिक ! प्रिय से दो गाथा, डोमिलक या चउपइ कह देना; सम्पूर्ण विरह–वर्णन को अद्‌भुत जीवंतता प्रदान करता है। विरह–वर्णन में एकालाप के स्थान पर नाटकीयता का यह संयोजन रचनाकार की अपनी विशेषता है। पथिक द्वारा नायिका को धैर्य धारण करने के लिए कहना, प्रवासी की विवशताओं को बताना आदि बातें निरंतर संवाद को बनाए रखती हैं। धीरे–धीरे पथिक नायिका की करुण दशा से आत्मिकता से जुड़ जाता है और वह उसके प्रिय–वियोग के दिन के विषय में पूछता है। यहीं पर द्वितीय प्रक्रम समाप्त होता है।

तीसरे प्रक्रम में षड्‌ऋतु वर्णन है। षड्‌ऋतु वर्णन ग्रीष्म ऋतु से प्रारम्भ होकर वसन्त पर समाप्त होता है। प्रकृति–वर्णन मुख्यतः उद्‌दीपन के रूप में आया है फिर भी प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन नायिका के हृदय में स्थित भावों की अभिव्यंजना में पूर्णतः सक्षम है। रचनाकार ने प्रकृति का प्रयोग नायिका के हृदय की वेदना को अभिव्यक्त करने के क्रम में ही किया है। ऋतुवर्णन की समाप्ति के साथ ही नायिका का संदेश–कथन भी समाप्त होता है। वह आशीष देकर पथिक को विदा करती है। पथिक को भेजकर वह स्वयं भी वेगपूर्वक चलते हुए दक्षिण दिशा की ओर देखती है तो उसे उसका पति आता हुआ दिखायी देता है। यहीं पर कवि आशीर्वचन के साथ रचना को समाप्त करता है।

कवि ने संदेशरासक की रचना के केन्द्र में तो विरह को रखा है लेकिन ग्रंथ विरह–कथनों तक ही सीमित नहीं है। भूमिका में ही कवि की श्रेष्ठ रचना क्षमता का अंदाजा लग जाता है। विषय के प्रस्तुतिकरण में ही एक श्रेष्ठ कवि के काव्य–सौन्दर्य की जो झलक मिलती है, वह ग्रंथ के अंत में अपनी पूर्णता को प्राप्त हुई है। कवि का सामान्य के प्रति अद्‌भुत आकर्षण है। कविता के निवेदन में ही वह कहता है :

अवहट्‌टय–सक्कय–पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए।
लक्खणछंदाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिं।।
ताणडणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्‌दसत्थरहियाण।
लक्खणछंदपमुक्कं कुकवित्तं को संससेइ।।

अहवा ण इत्थ दोसो जइ उइयं ससहरेण णिसिसमए।
ता किं ण हु जोइज्जइ भुअणे रयणीसु जोइक्खं।।

जिन्होंने अपभ्रंश, संस्कृत, प्राकृत और पैशाची भाषाओं में कविता की तथा सुंदर काव्य को लक्षण, छंद, अलंकार से विभूषित किया। उन कवियों के पश्चात् हम जैसे श्रुति, शब्द, शास्त्र न जानने वालों की लक्षण–छंद–रहित कुकविता की प्रशंसा कौन करेगा ? या फिर इसमें कोई दोष नहीं क्योंकि यदि रात में चंद्रमा उदित होता है तो क्या घर में रात को दीपक नहीं जलाये जाते ?[43]

पूरी रचना पढ़ने के बाद कहीं से भी ऐसा नहीं लगता है कि ये श्रुति, शब्द और शास्त्र न जानने वालो कवि की लक्षण–छंद–रहित कुकविता है। कवि द्वारा साधारण से स्वयं की तुलना करने में जो आत्मविश्वास है वह आत्मप्रशंसा या श्रेष्ठ जनों की भीड़ में शामिल होने की अनावश्यक चेष्टा से कहीं बहुत अधिक ऊपर है। रचनाकार की योग्यता का प्रमाण स्वयं उसकी रचना है। रचनाकार का आत्मविश्वास सामान्य की सुंदरता के समान हर परिस्थिति में अंतपर्यंत बना हुआ है। रचना के प्रौढ़ रूप को देखते हुए सहसा यह विश्वास ही नहीं होता कि यह कवि की एक मात्र रचना है। संदेश–कथन जैसे विषय को लेकर लिखी गयी भाषा–साहित्य की इस पहली रचना को ही रचनाकार ने श्रेष्ठतम् तक पहुँचा दिया है। पं. राहुल सांकृत्यायन इसे देखकर जो दुःख प्रकट करते हैं वह सहज ही है कि इतने सुंदर कवि की इतनी कम कविता हमें प्राप्त है। संदेशरासक एक सुंदर प्रेम–काव्य, विशिष्ट संदेश–काव्य और श्रेष्ठ विरह–काव्य तीनों है।

काव्य–रूप की दृष्टि से यह संदेश–काव्य के रूप में सामने आता है। ग्रंथ में कथा के स्थान पर भावों का विस्तार अधिक है। इस ग्रंथ के पीछे संस्कृत दूत काव्यों की एक परम्परा रही है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में दूतकाव्यों को संदेशपरक गीतिकाव्यों के अंतर्गत रखा गया है। गीतिकाव्यों का सम्बन्ध भावों से ही है। संदेशरासक रास–काव्य की गीति–परम्परा और गीति–तत्त्व की भावात्मकता को स्वयं में समेटे हुए है। गीति–काव्य की पूर्ण विशेषता के साथ ही इस ग्रंथ में रचनाकार की प्रबंध क्षमता भी पूरी तरह से उभर कर सामने आयी है। प्रबंध–काव्य की वर्णनात्मकता इसमें सर्वत्र उजागर होती है। हालाँकि ये वर्णन स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म अधिक है। रचनाकार द्वारा वस्तुओं के नाम–परिगणन वाले स्थान को छोड़कर हर जगह भावों का संवेदनात्मक निरूपण ही इष्ट है। इसी क्रम में रूपसौन्दर्य वर्णन, वस्तु वर्णन, विरह वर्णन और षड्ऋतु वर्णन आता है।

TH-20376
Jawaharlal Nehru University Library

इन वर्णनों में भी कवि की परिपक्वता दिखायी देती है। नायिका के रूपसौन्दर्य वर्णन में विशिष्ट उपमानों की जो पुनरुक्तियाँ हुई हैं उसे सहजता से ग्राह्य बनाते हुए कवि लिखता है :

सयलज्ज सिरेविणु पयडियाइँ अंगाइँ तीइवि सुसविसेसं।
को कवियणाण दूसइ सिट्ठं विहिणावि पुणरूत्त।।

शैलजा पार्वती को उत्पन्न करके स्रष्टा ने उससे भी कुछ अधिक विशेषताओं के साथ इस नायिका के अंगों को प्रकटित किया है। कवियों को कौन दोष दे सकता है जब स्वयं ब्रह्मा ने ही पुनरूक्ति की सृष्टि की।[44]

नायिका के जिस रूप को कवि ने सर्वप्रथम सामने रखा है वह हृदय को प्रथम द्रष्ट्या करुणार्द्र बना देता है। इसी पृष्ठभूमि के कारण आगे चलकर कवि ने नायिका का जो शिख–नख वर्णन किया है; वह कामुकता को उद्दीप्त करने वाला सौन्दर्य मात्र नहीं है बल्कि हृदय के अन्तःस्थल तक पहुँचकर उसे करुणा का आवरण प्रदान करने वाला भाव बन जाता है। नायिका के शिख–नख वर्णन के लिए प्रयुक्त उपमान तो रूढ़िगत ही हैं लेकिन उनके माध्यम से एक पवित्र एवं निर्दोष सौन्दर्य की झाँकी दिखा देना कवि की काव्य–शक्ति की विशेषता है। कवि के वर्णन की निष्कंलकता भी नायिका के मुख के ही समान है जिसकी तुलना कवि ने सूर्य के प्रतिबिम्ब से की है –

रयणीतमविद्दवणो अभियंझरणो सुपुण्णसोमो य।
अकलंक माइ वयणं वासरणाहस्स पडिबिंबं।।[45]

नायिका का सौन्दर्य उसी गम्भीरता के साथ भावों का आलोड़न करते हुए मन में समा जाता है जैसे पर्वतीय नदी के आवर्त में जल; जिसके सदृश उस रूपवती की नाभि है। नायिका की कटि तो मर्त्य सुख की भाँति सूक्ष्म है लेकिन उसका वर्णन करने वाले कवि की सौन्दर्य दृष्टि क्षणिक नहीं है और उस सौन्दर्य भाव से भरी हुई उसकी कविता अमर्त्य हो गयी है। यह रचना यदि आचार्य रामचंद्र शुक्ल के समक्ष आयी होती तो निश्चित ही हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रारम्भिक काल का नामकरण 'वीरगाथा काल' नहीं करते।

नायिका के सौन्दर्य वर्णन के बाद कवि को नगर वर्णन का थोड़ा सा अवकाश मिल जाता है। कवि साम्बपुर नगर का वर्णन करता है जिसे मूलस्थान भी कहा जाता है। कवि जिस प्रकार नायिका के रूप का वर्णन करता है उसी प्रकार नगर–वर्णन के समय सामान्य स्त्रियों के रूप का भी, लेकिन यहाँ हृदय के उन भावों को जागृत करने में वह

सफल नहीं हो पाया है जैसा कि नायिका के सौन्दर्य–वर्णन के समय हुआ है। कवि का नगर साहित्य एवं कला की विकसित अवस्था वाला है। वहाँ कहीं प्राकृत के छंद सुनायी देते हैं तो कहीं वेदों की व्याख्या हो रही है। कहीं रासक पढ़े जा रहे हैं। कहीं सुदवच्छ, कहीं नलचरित तो कहीं महाभारत कथायें पढ़ी जा रही हैं। कहीं नटों द्वारा रामायण का अभिनय किया जा रहा है। अब्दुलरहमान द्वारा किया गया यह नगर–वर्णन मात्र कल्पना की उपज नहीं लगता। कवि का साधारण के प्रति जो असाधारण लगाव कविता के आरम्भ में ही मिलता है; उस हृदय या उस मस्तिष्क में ऐसी कोरी कल्पनाओं के लिए कोई स्थान नहीं बचता। कवि आरम्भ में ही लगभग चुनौती के स्वर में कहता है कि यदि सूर्य के उदित होने पर सरोवर में कमलिनी खिलती है तो बाड़े में लगी हुई लौकी क्यों न फूले ? सामान्य और विशेष को एक धरातल पर लाने वाला ऐसा समर्थ रचनाकार अपने समय और समाज का चित्रण कभी भी मात्र कल्पना के आधार पर नहीं करेगा। यह अवश्य सम्भव है कि एक समर्थ रचनाकार अपने अध्ययन से अर्जित पूर्व–परम्परा की बहुत सारी बातों को अपने से जोड़ देता है लेकिन सब कुछ पूर्व–परम्परा वर्णित या अध्ययन मात्र द्वारा लिखा जाये यह सम्भव नहीं। हर बड़ा रचनाकार अपने समय और समाज को ही रचना के केन्द्र में रखता है। जिस प्रकार व्यक्तियों का व्यापार के हेतु दूसरे देश जाना यथार्थ है, जिस प्रकार उनकी स्त्रियों का उनका मुख देखने के लिए तरसना यथार्थ है, जिस प्रकार ऐसी दयनीय स्थिति में उनका संदेश–कथन यथार्थ है उसी प्रकार नगरों का वैभवपूर्ण और उसमें कला–साहित्य का अपने चरम अवस्था में होना भी यथार्थ है।

अब्दुलरहमान द्वारा वर्णित यह नगर तुलसी के रामराज्य या जायसी के सिंहलद्वीप के समान यूटोपिया मात्र नहीं है। जो दृश्य कवि ने यहाँ उपस्थित किये हैं, वह तत्कालीन मूर्तिकला में भी देखे जा सकते हैं। रचनाकार का नगर तो उत्तर–पश्चिम देश में स्थित है। लेकिन ये दृश्य मध्य, पूर्वी और दक्षिण भारत की मूर्तिकला और उनसे जुड़े स्थापत्यों में इसी प्रकार उपस्थित हैं। ये मूर्तियाँ अपने समय और समाज के वैभव की झाँकी हैं। रचनाकार स्वयं शिल्पी जाति से है और भारत के सांस्कृतिक विकास में इन जातियों का योगदान ऐतिहासिक तथ्य है। अवश्य ही रचनाकार मुल्तान नगर की सांस्कृतिक रूप से उन्नत और वैभवपूर्ण अवस्था का प्रत्यक्षदर्शी रहा है। यदि यह वैभव उसके पूर्वकाल का होता तो इसके नष्ट होने का अवसाद रचना के वर्णन क्रम में कहीं न कहीं जरूर होता जबकि ऐसा अवसाद पूरी रचना में कहीं नहीं दिखायी देता है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल का समय छोटे स्तर से लेकर बड़े स्तर तक राजनीतिक उलटफेर का समय रहा है। इस उलटफेर में हुए युद्धादि का वर्णन तत्कालीन

रचनाओं में सजीवता से चित्रित है। अब्दुलरहमान जैसे कुछ रचनाकारों के यहाँ तत्कालीन समाज का एक दूसरा पक्ष भी उभर कर सामने आता है। एक ओर तो राजनीतिक सत्ता की हार–जीत है तो दूसरी ओर ऐसी विषम परिस्थिति में विभिन्न कलाओं और संस्कृति का विकास वह भी हर स्तर से। यह उस समय के समाज की जीवटता का द्योतक है और तत्कालीन समाज के इन पक्षों का चित्रण करने वाला हर रचनाकार जीवट का कवि है। हेमचंद्र हों या सोमप्रभ, मेरूतुंग हों या अब्दुल रहमान, नरपति नाल्ह हों या चन्दबरदाई; ये सभी रचनाकार जीवन और जीवंतता के कवि हैं। इनकी कविता कठिन परिस्थिति में भी भारतीय आत्मा के आशावादिता और कर्मठता की कविता है।

नगर–वर्णन के पश्चात् कवि अपनी कविता के केन्द्रिय भाव विरह पर पहुँचता है। विरहिणी नायिका की दयनीय दशा को बताने के क्रम में वियोग की यह भाव–भूमि रचना में आरम्भ से ही उपस्थित है लेकिन उसका विस्तृत वर्णन अर्थात् संदेश–कथन तब शुरू होता है जब नायिका को यह पता चलता है कि पथिक खम्भात जा रहा है। विरह–वर्णन संवेदनात्मक अधिक है, जिससे हृदय में करुणा और सहानुभूति उत्पन्न होती है। इसलिए वर्णन ऊहात्मक मात्र होने से बच गया है। कहीं–कहीं ऊहात्मक वर्णन भी हैं लेकिन ये ऊहात्मकता विरहित हृदय के मार्मिक उद्‌गारों में दब गये हैं। कवि ने अंतर्वस्तु और शिल्प दोनों स्तरों पर विरह की संवेदना को उभारने में अधिक ध्यान दिया है। सम्पूर्ण विरह–वर्णन शास्त्रों में वर्णित विरह–दशाओं के आधार पर नहीं बल्कि प्रेम–रस में डूबे हृदय की विरहजन्य पीड़ा के आधार पर किया गया है जिसमें लोक की सरस अंतर्वृत्ति कथ्य एवं शिल्प दोनों रूपों में प्रवाहित है। ऋतुवर्णन भी विरह–वर्णन के स्वाभाविक विकास के रूप में आया है, रूढ़िगत रूप में कविता में जबरदस्ती भरा गया नहीं लगता।

संदेश–रासक के रचनाकार की काव्य–शक्ति का पूरा परिचय इस छोटी–सी रचना में मिल जाता है। रचना की भी यह एक बड़ी विशेषता बन जाती है कि अपने छोटे से कलेवर में पूरी प्रबंधात्मकता को समेटे हुए है। श्रुति, शब्द और शास्त्र जानने वाले कवि द्वारा जनभाषा में सामान्य जन के ही जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्ष को अपनी कविता का केन्द्रिय भाव बनाना; उस भाव को मूर्त्त रूप देने के लिए भी लोक की ही वस्तुओं का चयन करना उसे साधारण और सहज जीवन का असाधारण कवि बना देता है।

1.7 बीसलदेव रास : रचना एवं कथ्य

बीसलदेव रास की कई प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। समस्त प्रतियाँ श्री अगरचंद नाहटा द्वारा एकत्रित की गयी हैं। बीसलदेव रास की प्रस्तावना में माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है – "प्रायः ढाई वर्ष हुए, 'राजस्थानी' की फाइलें उलटते–पुलटते जनवरी, 1940 के अंक में श्री अगरचंद नाहटा का 'बीसलदेव रासो' की हस्तलिखित प्रतियाँ शीर्षक लेख पढ़ा। उसमें नाहटाजी ने ग्रंथ की एक दर्जन से अधिक प्राचीन प्रतियों का संक्षिप्त उल्लेख किया था।"[45]

जिस ग्रंथ की इतनी अधिक प्रतियाँ प्राप्त हैं उसमें सर्वाधिक पाठान्तर होना भी स्वाभाविक है। इन सभी प्रतियों के आधार पर माताप्रसाद गुप्त ने पाँच प्रकार का पाठ तैयार किया है। इन पाँचों प्रकार के पाठों का नामकरण इन्होंने इस प्रकार किया है –

(i) मजूमदार समूह – इसमें दो प्रतियाँ सम्मिलित हैं।

(ii) पं. समूह – इसमें आठ प्रतियाँ सम्मिलित हैं और इन आठों प्रतियों का भी अलग–अलग नामकरण किया गया है। तिथि युक्त प्रतियों में यह प्रति सर्वाधिक प्राचीन है जिसके आधार पर इस समूह का नाम पं. समूह रखा गया है।

(iii) नरोत्तम स्वामी समूह – इस समूह में एकमात्र प्रति है।

(iv) अगरचंद नाहटा समूह – इस समूह में तीन प्रतियाँ सम्मिलित हैं और उनके नाम भी भिन्न–भिन्न हैं। प्रथम प्रति की प्रतिलिपि का कुछ अंश नाहटा जी द्वारा किया गया है, इसलिए इस आधार पर इस समूह का नाम अ. समूह रखा गया है।

(v) सत्यजीवन वर्मा समूह – इसमें दो प्रतियाँ शामिल हैं। इस समूह का पाठ चार खण्डों में विभक्त किया गया है। यह नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण है जिसका सम्पादन सत्यजीवन वर्मा ने किया है।

इन्हीं प्रतियों के आधार पर माताप्रसाद गुप्त ने प्रस्तुत ग्रंथ का पाठ निर्धारण किया है नरपति नाल्ह द्वारा रचित यह सम्पूर्ण ग्रंथ 128 छंदों का है। पूरे ग्रंथ में शृंगार के ही दोनों रूपों का चित्रण है जिसमें संयोग का क्षण कुछ ही समय के लिए आया है, मुख्यतः वियोग–वर्णन ही है।

कथानक

इस ग्रंथ के कथानक का ताना–बाना बीसलदेव और भोज की कन्या राजमती के विवाह और बीसलदेव से उसके वियोग को केन्द्र में रखकर बुना गया है। कविता का आरम्भ गणेश और सरस्वती की वन्दना से होता है और उसी क्रम में कवि ने अपने नाम का भी उल्लेख किया है। वह अपने को कुलहीन कवि कहता है और अगले छंद में ही माँ शारदा की कृपा के आधार पर रसायण का गान करने का वर्णन करता है।

सभा में रानी राजा भोज से कन्या के विवाह का निवेदन करती है। इस पर राजा तत्काल पंडित और भाट द्वारा अजमेर के शासक बीसलदेव के पास लग्न के शगुन के रूप में सुपारी भेजता है और बीसलदेव उसे स्वीकार कर लेता है। अब बीसलदेव धार के लिए बारात लेकर निकल पड़ता है और पाँचवी मंजिल में बारात चित्तौड़गढ़ पहुँचती है तत्पश्चात धार। विवाह–कार्य सम्पन्न होता है। बीसलदेव को दायज में आलीसार, माल, सपादलक्ष देश, साँभर सर, नागर चाल, विछाल, तोडा, उउँक, बूँदी, कुडाल, मंडोवर, सोरठ, गुजरात, बारह गढ़ों के साथ चित्तौड़गढ़ दिया गया। पुनः बीसलदेव राजमती सहित अजमेर वापस आ गया। एक दिन राजा ने गर्वपूर्वक कहा कि उसके समान दूसरा कोई राजा नहीं है। रानी राजमती को राजा की यह गर्वोक्ति सहन नहीं हुई और उसने कहा कि राजा को गर्व नहीं करना चाहिए। उसके समान अनेक राजा हैं। एक तो उड़ीसा के ही राजा है जिसके राज्य में खानों से हीरा उसी प्रकार निकलता है जिस प्रकार बीसलदेव के राज्य में नमक। इस पर बीसलदेव द्वारा पूछने पर राजमती अपने पूर्वजन्म की कथा बताती है। पूर्व जन्म में वह उड़ीसा में हिरणी थी और उसकी मृत्यु जगन्नाथ स्वामी के द्वार पर हुई थी। उसने जगन्नाथ स्वामी से पुनः पूर्व देश में जन्म न होने का और मारवाड़ में राजकुमारी के जन्म का वर माँगा था।

बीसलदेव को राजमती द्वारा कही गयी बात लग गई और वह उड़ीसा में बारह वर्ष के लिए चाकरी करने के लिए जाने लगा। रानी के लाख अनुनय–विनय करने पर भी वह नहीं मानता है। रचनाकार को राजमती के विरह वर्णन का अवसर मिलता है। इसी क्रम में बारहमासे का वर्णन है जो कार्तिक से शुरू होता है और अश्विन मास पर समाप्त होता है। बारह वर्ष समाप्त होने का समय नजदीक आया तो राजमती पंडित से संदेश भेजती है। रानी का संदेश प्राप्त कर राजा वापस आने की तैयारी करता है। उड़ीसा के राजा, पटरानी और प्रधान अमात्य सब बीसलदेव को रोकते हैं लेकिन वह रुकने के लिए तैयार नहीं होता। एक योगी द्वारा अपने वापस आने की पूर्वसूचना वह रानी तक भेजता है। तीसरे दिन राजा स्वयं अजमेर पहुँच जाता है। बारह वर्षों बाद रानी राजा से मिलती

है। रानी राजा को उसी रौ में उलाहने देती है जिस तरह पहले उनकी गर्वोक्ति का खंडन किया था। अंत में दोनों पति–पत्नी का प्रेमपूर्वक संयोग होता है और कवि आशीर्वचन के साथ ग्रंथ को समाप्त करता है।

1.8 नायक एवं रचनाकाल

माताप्रसाद गुप्त ने इस ग्रंथ के बीसलदेव को चौहान वंश का विग्रहराज तृतीय माना है। इस सम्भावना का आधार विग्रहराज तृतीय की रानी का नाम राजदेवी होना है तो वीज्योल्याँ के शिलालेख में उल्लिखित है और प्रस्तुत ग्रंथ में भी बीसलदेव की रानी का नाम राजमती है। राजमती और राजदेवी के नाम–साम्य के आधार पर ही गुप्त जी ने यह निष्कर्ष निकाला है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विवेचित ग्रंथ के नायक को चौहान वंशीय विग्रहराज चतुर्थ माना है। विग्रहराज चतुर्थ और चालुक्य वंशीय कुमारपाल समकालीन थे। विग्रहराज चतुर्थ बीसलदेव (लगभग 1153–63 ई.) असाधारण क्षमता का कुशल शासक था। इसने कुमारपाल को हराया साथ ही दिल्ली पर पुनः अधिकार करके हाँसी को भी जीत लिया था। उसके साम्राज्य में पंजाब, राजपूताना और पश्चिमी उत्तर–प्रदेश के कुछ भाग भी शामिल थे। बीसलदेव ने तुर्कों से भी युद्ध करके उन्हें भारत में आगे बढ़ने से रोका था। वीर एवं प्रतापी होने के साथ ही वह कला एवं साहित्य का भी आश्रयदाता था। बीसलदेव स्वयं कविता करने में रुचि रखता था। बीसलदेव का लिखा हुआ 'हरकेलि नाटक' आंशिक रूप से प्रस्तरखण्ड पर खुदा हुआ मिला है। इनके राजकवि सोमदेव थे; जिन्हें 'ललितविग्रहराज' नाटक के रचनाकार के रूप में जाना जाता है। बीसलदेव भाषा–कवियों का भी सम्मान करता था।

इस ग्रंथ के नायक के संदर्भ में आचार्य शुक्ल एवं द्विवेदी जी का मत ही सही जान पड़ता है क्योंकि विग्रहराज तृतीय के समय तक ग्रंथ में वर्णित दो प्रमुख नगरों अजमेर और जैसलमेर को बसाया ही नहीं गया था। प्रस्तुत ग्रंथ की भाषा के आधार पर यह तो सिद्ध हो चुका है कि यह 14वीं सदी के लगभग की रचना है –

"प्रस्तुत संस्करण के पाठ की भाषा को सं. 1400 के आस–पास की किन्हीं भी राजस्थानी रचनाओं की भाषा से मिलाकर यह बात देखी जा सकती है कि 'बीसलदेव रास' की भाषा लगभग उन्हीं के जैसी है।"[46]

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि रचना विग्रहराज चतुर्थ के भी बहुत बाद की है तो रचनाकार द्वारा जिस नायक का वर्णन किया गया है वह विग्रहराज तृतीय भी तो हो सकता है। जैसे अन्य घटनाएँ काल्पनिक हैं वैसे ही जैसलमेर और अजमेर को विग्रहराज तृतीय से जोड़ना भी कल्पना द्वारा सम्भव है ?

बीसलदेव रास का पूरा कलेवर लोक–कवि द्वारा मुख्यतः गाने के लिए रची गयी रचना का है। चौहान वंश के विग्रहराज नाम के चारो शासकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध विग्रहराज चतुर्थ हुआ है। इसीलिए लोकरचनाओं में विग्रहराज चतुर्थ के चरित्र वर्णन की सम्भावना सर्वाधिक है। नाल्ह के समय तक चारो का शासन समाप्त हो चुका था। लोकभाषा का रचनाकार होने के कारण नरपति ने निश्चित रूप से इन चारों में से सर्वाधिक लोकप्रिय चरित्र को ही अपनी रचना में स्थान दिया होगा। आज भी सामान्य जन में जिस पृथ्वीराज की चर्चा होती है वह पृथ्वीराज तृतीय है लेकिन पृथ्वीराज तृतीय को इतिहास जानने वाले लोग ही जानते हैं। सामान्य जन को तो सिर्फ 'पृथ्वीराज' के चरित्र से मतलब है, उनके लिए प्रथम, द्वितीय, तृतीय का कोई महत्त्व नहीं। कदाचित् यही बात बीसलदेव अर्थात् विग्रहराज चतुर्थ के सन्दर्भ में भी लागू होती है।

इस बात की सम्भावना इसलिए भी बढ़ जाती है क्योंकि विग्रहराज चतुर्थ भाषा–कवियों का भी बहुत सम्मान करता था। द्विवेदी जी के अनुसार –

"बीसलदेव कवियों का आश्रयदाता था और उसके दरबार में भाषा काव्य की थोड़ी प्रतिष्ठा भी थी। नरपति नाल्ह के बारे में तो, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह संदेह ही है कि वह कब का कवि है; पर अनुश्रुतियाँ सिद्ध करती हैं कि बीसलदेव के भाषा कवियों का मान था।"[47]

बीसलदेव रास में नरपति ने हर स्थान पर वर्तमान काल का ही प्रयोग किया है। इस आधार पर रामचंद्र शुक्ल ने सम्भावना व्यक्त की है कि वह बीसलदेव का समकालीन जान पड़ता है। ग्रंथ में भाषा के प्राचीनतम् प्रयोग के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि यह 14वीं सदी से पूर्व की रचना नहीं है अतः नरपति को बीसलदेव का समकालीन नहीं माना जा सकता। हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि नरपति का ही कोई पूर्वज जो उससे तीन–चार पीढ़ी पहले का हो, बीसलदेव का समकालीन रहा होगा। वह भी लोकभाषा का कवि रहा होगा और उसी के माध्यम से नरपति को बीसलदेव के विषय में कुछ जानकारी मिली हो। चूंकि परम्परा प्राप्त बातें लोक में अधिकतर वर्तमान काल में ही चलती है इसलिए प्रस्तुत ग्रंथ में वर्तमान काल का ही प्रयोग मिलता है। उसी परम्परा से नरपति को यह भी पता चला हो कि बीसलदेव की एक रानी परमार वंश से थी इसलिए इसे आधार बनाकर कवि ने कल्पना की एक ऊँची उड़ान भरी और उसका सम्बन्ध भोज से जोड़ दिया। एक वंश के सर्वाधिक प्रतापी राजा का सम्बन्धी भी तो उसी के समान प्रतापी होना चाहिए, अन्यथा भोज की मृत्यु तो विग्रहराज चतुर्थ से सौ वर्ष पहले ही हो चुकी थी। भोज परमार वंश का सर्वाधिक प्रतापी शासक था। गोविंद प्रसाद उपाध्याय ने लिखा है :

"निस्संदेह भोज परमार एक पराक्रमी सेनानायक तथा योग्य शासक था। लगातार युद्ध द्वारा उन्होंने अपने राज्य की सीमा पर्याप्त विस्तृत कर ली थी। उनके साम्राज्य में मालवा, कोंकण, खानदेश, भिलसा, डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, चित्तौड़ और गोदावरी घाटी का कुछ हिस्सा शामिल था। यह बात स्मरणीय है कि उन्होंने प्राचीन राजधानी उज्जैन को छोड़कर धारा को अपनी राजधानी बनाया।"[48]

नरपति ने बीसलदेव और राजमती के विवाह के समय दायज के संदर्भ में जिन–जिन स्थानों का नाम लिया है, उनमें से कुछ प्रतापी राजा भोज के साम्राज्य में थे। बाद में कुछ स्थान विग्रहराज के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। कवि ने कल्पना द्वारा इन स्थानों का अच्छा संगम किया है। सम्पूर्ण ग्रंथ में दो नामों बीसलदेव और भोज को छोड़कर सारी घटनाएँ, सभी वर्णन सब कुछ काल्पनिक हैं। बीसलदेव की रानी राजमती भी काल्पनिक ही हैं। यह वह राजदेवी नहीं हैं जिनका उल्लेख बीज्योल्याँ के शिलालेख में हुआ है।

1.9 कथ्य की विशेषता : नरपति भले ही कविता गाने वाला चारण रहा हो लेकिन उसकी कविता में एक कुशल कवि के कवित्व की झलक मिलती है। ग्रंथ के आरम्भ में ईश–वंदना के साथ ही कवि अपनी कविता के मर्म को सामने रख देता है :

हंस गमणि मृगलोयणी नारि।
सीस समारइ दिन गिणइ।
ततषिणि ऊभी छइ राजदुवारि।
नाहनइ जोवइ चिहुं दिसइ।
कांइ सिरजी उलगाणांरी नारि
जाइ दिहाडउ रे झूरतां।।[49]

हंसगामिनी और मृगलोचनी स्त्री अपने सिर को सँवारती है और दिन गिनती रहती है। उस क्षण वह राजद्वार पर खड़ी होकर चारों ओर अपने नाथ को देखती है। हे विधाता ! तुमने राजसेवक की स्त्री का सृजन ही क्यों किया ? उसका सारा दिन पति की चिंता करते हुए जाता है।

इसके माध्यम से कवि आरम्भ में ही स्पष्ट कर देता है कि राजसेवक की स्त्री का अपने नाथ से वियोग ही ग्रंथ के केन्द्र में है। जिस प्रकार की नायिका स्वयं कवि ने सिरजा है; उसके चरित्र की विशेषताओं को भी उसने स्पष्ट कर दिया है। स्त्री की विवशता तो सब जानते हैं और यहाँ तो राजसेवक की स्त्री की विवशता है। एक तो स्त्री

उस पर भी राजसेवक की अर्थात् दोहरी बंदिश। लोक–लाज का दुहरा डर। स्वतंत्र जीवन की दुगुनी लालसा। राजमती जैसी नायिका पूरे हिंदी साहित्य में कहीं नहीं है यदि कहीं इस तरह के कुछ उदाहरण मिलते भी हैं तो वह तत्कालीन समय और समाज के परिप्रेक्ष्य में राजमती से बहुत नीचे ही ठहरते हैं। इस छंद में कवि ने राजमती के बाह्य रूप के साथ ही उसके हृदय की झाँकी भी दिखा दी है। आगे क्या होने वाला है इसका भान यहीं से होने लगता है। आगे ऐसा क्यों होता है, राजसेवक की स्त्री को पति का वियोग क्यों होता है; इसकी जानकारी भी थोड़ी देर बाद ही मिल जाती है –

स्त्रीयचरित्र घण लष लहइ।
एकही अक्षर सरब विणास।।[50]

वह स्त्री अपनी इस दशा का कारण स्वयं ही है क्योंकि सभी गुणों से युक्त होने के बावजूद एक ही वचन से उसके समस्त सुखों का नाश हो गया। समस्त स्त्री–चरित्र से परिपूर्ण होने के बावजूद बीसलदेव राजमती के एक ही वचन से रुष्ट होकर उसे इतनी बड़ी सजा देता है। इससे तो यही स्पष्ट होता है कि स्त्री को बोलने का कोई अधिकार नहीं क्योंकि उसके बोलने से ही उसके सारे सुख नष्ट हो गये हैं। इस परिस्थिति में राजमती जैसी तेज स्त्री का, वह भी ग्रंथ की नायिका के रूप में सृजन नरपति नाल्ह की सबसे बड़ी विशेषता है। घोर सामंती युग में एक स्त्री द्वारा अपने पति को उसकी गर्वोक्ति पर टोकना, उस पर भी यह कि पति एक प्रतापी राजा हो तो अपने आप में यह बहुत बड़ी बात है। इस बड़ी बात की बड़ी सजा भी उसे मिलती ही है क्योंकि उसने सिर्फ पति को ही नहीं चुनौती दी बल्कि एक शासक को चुनौती दी है। प्रकारान्तर से राजसत्ता को चुनौती दी है। एक सामान्य स्त्री तो अपने पति से लड़ सकती है, झगड़ सकती है, रूठ सकती है, लेकिन एक शासक की स्त्री के लिए ये सारी सम्भावनायें नहीं हैं। सभ्यता के विकास के इस अंतर्विरोध के संदर्भ में आचार्य शुक्ल लिखते हैं :

"सभ्यता की वृद्धि के साथ–साथ ज्यों–ज्यों मनुष्यों के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गये त्यों–त्यों उसके मूल रूप बहुत कुछ आछन्न होते गये। भावों के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और–और लक्ष्यों की स्थापना होती गयी; वासनाजन्य मूल व्यापारों के सिवा बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता गया। इस प्रकार बहुत–से ऐसे व्यापारों से मनुष्य घिरता गया जिनके साथ उसके भावों का सीधा लगाव नहीं।"[51]

शासक होने के मद में चूर बीसलदेव को अपने पति होने का भी एहसास नहीं रह जाता। राजमती के बार–बार उसके पति होने के कर्त्तव्य को याद दिलाने और स्वयं

को उसकी बाँदी बताने के बाद भी शासक बीसलदेव का मन नहीं पसीजता। राजमती अपने मन को खोलकर राजा के सामने रख देती है :

चालियउ उलगाणउ धण जाण न देह।
मो नइ मारि कइ सरिसीय लेइ।
अंचल ग्रहि धण इम कहइ।
दुइ दुष सालइ हो सामीय साँझ।
जीवन मुरडीय मारिस्यइ।
दोस किसउ जइ साधण बाँझ।।[52]

स्त्री के इतने निवेदन के बाद भी राजा नहीं मानता और बारह वर्षों तक उसे व्याकुल होने के लिए छोड़ जाता है। बारह वर्षों के पूरे विरह में राजमती को सबसे अधिक यही सालता है कि ईश्वर ने उसे सामान्य पुरुष की स्त्री क्यों नहीं बनाया। क्यों उसे रानी का जीवन दिया। साधारण पुरुष की स्त्री होने पर कम से कम वह हर परिस्थिति में अधिकार के साथ उसके साथ रह तो सकती है न ! रानी बनने के साथ ही एक सामान्य स्त्री का पति पर जो अधिकार होता है उसे राजमती ने खो दिया है। राजमती के हृदय की इस वेदना से ही कवि ने साक्षात्कार किया है और इसे ही अपनी कविता का केन्द्रिय भाव भी बनाया है। राजा के वापस आ जाने के बाद भी उस स्त्री के मन में जो टीस रह गयी है उसे उजागर करते हुए कवि कहता है :

उण की विरह वेदन नवि जाणइ कोइ।[53]

विरह–वेदना के इस मर्म को कवि पूर्णतः उभार सका है।

सम्पूर्ण ग्रंथ मूल रूप में वर्णनात्मक है। घटनाएं मुख्य रूप से सिर्फ दो ही हैं एक तो बीसलदेव और राजमती का विवाह दूसरा बीसलदेव का रूठकर उड़ीसा चले जाना। ग्रंथ के आरम्भ में ही विवाह का वर्णन है उसके बाद राजमती का सौन्दर्य और स्वभाव सामने आता है। राजा के उड़ीसा चले जाने के बाद ग्रंथ का मुख्य वर्णन विरह–वर्णन प्रारम्भ होता है। विरह–वर्णन में स्त्री की दशा का चित्रण कवि ने पूरी तन्मयता से किया है और इसमें राजमती के चरित्र का दूसरा पक्ष जो मूल रूप में स्त्री हृदय है उभर कर सामने आता है। इस छोटे से ग्रंथ में शास्त्र के पंडितों को भले ही कोई साहित्यिकता नजर नहीं आती लेकिन साहित्य के लिए जो तत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है वह इसमें आद्यांत विद्यमान है। स्त्री–हृदय की विवशता और उसकी वेदना के मर्म को उद्घाटित करने में नरपति नाल्ह एक सफल कवि हैं।

संदर्भ

1. रास एवं रासान्वयी काव्य, पृ. 1
2. अग्निपुराण, 338/3, पृ. 539
3. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, पृ. 35
4. श्री विष्णु पुराण, पंचम अंश, 45–50
5. भावप्रकाश 9/7वीं से 9वीं पंक्ति, पृ. 255
6. वही, 9/19–20वीं पंक्ति, पृ. 256
7. हर्षचरित, चतुर्थ उच्छवास, पृ. 130
8. वही, पृ. 131–132
9. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 67 (संदेशरासक, पृ. 60)
10. भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय 33/8
11. वही, अध्याय 33/10
12. रासो के अर्थ का क्रमिक विकास, साहित्य–संदेश, जुलाई 1951 (संदेशरासक, पृ. 62)
13. वृत्तजाति समुच्चय, चतुर्थ निगम, 38 (प्राकृत पैंगलम, भाग–2, पृ. 364)
14. वही, पृ. 363
15. स्वयंभूछंदस् 8/24, (संदेशरासक और पद्मावत का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 36)
16. स्वयंभूछंदस् 8/25, (संदेशरासक और पद्मावत का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 36)
17. हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, पृ. 414
18. गुजराती साहित्य ना रूपरेखा, पृ. 72, (रास एवं रासान्वयी काव्य, पृ. 11)
19. रासो के अर्थ का क्रमिक विकास, साहित्य–संदेश, जुलाई 1951, (संदेशरासक, पृ. 61)
20. काव्यानुशासन, 8/4, पृ. 391
21. संदेशरासक, पृ. 65
22. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ. 95
23. पुरानी हिन्दी, पृ. 37
24. वही, पृ. 108
25. वही, पृ. 18
26. वही, पृ. 58–59
27. मेघदूतम्, उत्तरमेघ/36, पृ. 210
28. मेघदूतम्, उत्तरमेघ/37, पृ. 212
29. सेतुबन्ध, पृ. 22
30. उत्तररामचरित्, 3/38, पृ. 89
31. जायसी ग्रंथावली, पृ. 32
32. चिंतामणि, भाग–1, पृ. 83
33. संदेशरासक, पृ. 143
34. वही, पृ. 77
35. पुरानी हिन्दी, पृ. 50–51
36. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ. 68

37. संदेशरासक, पृ. 145
38. वही, पृ. 145
39. वही, पृ. 17
40. वही, पृ. 79
41. मीरा का काव्य, पृ. 23
42. भारत का इतिहास, पृ. 210
43. संदेशरासक, पृ. 144
44. वही, पृ. 151
45. वही, पृ. 150
46. बीसलदेव रास, पृ. 59
47. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ. 55
48. मध्यकालीन भारत : भाग–1, पृ. 20
49. बीसलदेव रास, पृ. 87
50. वही, पृ. 89
51. चिंतामणि, भाग–1, पृ. 84
52. बीसलदेव रास, पृ. 121–122
53. वही, पृ. 213

द्वितीय अध्याय

संदेशरासक और बीसलदेवरास में विरह–वर्णन का स्वरूप

2.1 संदेशरासक में विरह-वर्णन : अंतर्वस्तु

2.2 संदेशरासक में विरह-वर्णन : शिल्प–विधान

2.3 बीसलदेव रास में विरह-वर्णन : अंतर्वस्तु

2.4 बीसलदेव रास में विरह-वर्णन : शिल्पविधान

विरह से तात्पर्य किसी प्रिय वस्तु से दूरी से है। विरह से पीड़ित व्यक्ति विरही या विरहित कहलाता है। अभीष्ट से रहित ही विरहित है। शास्त्रों में इसे वियोग कहा गया है। वि + योग = वियोग; शब्द से ही ध्वनित है कि योग के विपरीत। यह योगरहित अवस्था किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थान आदि से हो सकती है लेकिन शास्त्रों में इस वियोगावस्था को प्रिय व्यक्ति से जोड़कर इसकी व्याख्या की गयी है। वह प्रिय व्यक्ति माता–पिता, गुरु, भाई–बन्धु आदि नहीं बल्कि प्रियतम है इसलिए 'वियोग' शृंगार रस के एक पक्ष के रूप में वर्णित है। रस–शास्त्र में शृंगार का दो भाग किया गया है – संयोग और वियोग। स्थायी भाव रति जहाँ प्रिय के संयोग से पुष्ट होता है उसे संयोग शृंगार कहा जाता है। यदि किसी कारणवश प्रिय से संयोग नहीं हो पाता और स्थायी भाव को पुष्टता नहीं प्राप्त होती तो इस स्थिति को वियोग शृंगार कहा गया है।

भोजराज के अनुसार जब रति नामक भाव प्रकर्ष को प्राप्त कर लेता है, परन्तु अभीष्ट प्रिय की प्राप्ति नहीं होती तब विप्रलम्भ शृंगार कहलाता है।

भावोयदा रतिर्नामप्रकर्षमधिगच्छति।
नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलंभस्तदोच्यते।।[1]

भोजराज ने यह भी माना है कि विप्रलम्भ के बिना सम्भोग पुष्ट स्वरूप को प्राप्त नहीं करता है –

न विना विप्रलम्भेन सम्भोग पुष्टिमश्नुते।[2]

आचार्य विश्वनाथ ने वियोग की परिभाषा देते हुए लिखा है –

यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ।[3]

भानुदत्त के अनुसार इन्द्रियों का सम्बन्धाभाव ही वियोग है –

यूनोरन्योन्यं मुदितानां पंचेन्द्रियाणां सम्बन्धाभावोऽ
भीष्टाप्राप्तिर्वा विप्रलंभः।[4]

इस प्रकार संयुक्त–नायिका की दूरस्थता ही वियोग है। अभीष्ट प्रियतम से दूरी के कारणों के आधार पर वियोग को कई भागों में बाँटा गया है। 'काव्य प्रकाश' के चतुर्थ उल्लास में आचार्य मम्मट ने वियोग का विभाजन करते हुए उसे पाँच प्रकार का माना है – अभिलाषहेतुक (पूर्वराग), विरहहेतुक, ईर्ष्याहेतुक, प्रवासहेतुक, शापहेतुक।

भोजराज ने प्रकाण्ड (उत्तम) स्त्री–पुरुषों में वियोग को चार रूपों (काण्ड) में प्रकाशित बताया है – पूर्वानुराग, मान, प्रवास, करुण।[5] आचार्य विश्वनाथ ने भी वियोग के इन्हीं चार प्रकारों को माना है –

स च पूर्वरागमान प्रवासकरुणात्मकश्चतुर्था स्याद्।[6]

संदेश रासक और बीसलदेव रास का विरह–वर्णन प्रवास के अंतर्गत आता है।

2.1 संदेशरासक में विरह–वर्णन : अंतर्वस्तु

विजयनगर की नायिका का पति धनार्जन हेतु खम्भात चला गया है। पति के विदेश चले जाने के बाद मूल कथा के प्रारम्भ में ही कवि नायिका की स्थिति स्पष्ट बता देता है –

विजयनयरहु कवि वररमणि,
उत्तंगथिरथोरथणि, विरुडलक्कि, धयरट्ठपउहरि।
दीणाणहि पहुणिहइ जलपवाह पवहंति दीहरि।
विरहग्गिहि कणयंगितणु तह सामालिमपवन्नु।
णज्जइ राहि विडंबिअउ ताराहिवइ सउन्नु।।[7]

विजयनगर की एक सुंदर रमणी जो ऊँचे, स्थिर और स्थूल स्तनों वाली है। उसकी कटि बर्रे के समान पतली है। उसकी गति हंस के समान है। उसका मुखमंडल दीन हो गया है। लगातार रोती हुई वह पथ को निहार रही है। स्वर्ण के समान अंगों वाली उस रमणी का शरीर विरहाग्नि से श्यामल हो गया है। इसे देखकर ऐसा लग रहा है जैसे राहु द्वारा सम्पूर्ण चंद्रमा ग्रस्त कर लिया गया है।

नायिका की दीन–दशा से अनुमान लगाया जा सकता है कि वह कितनी विरह संतप्त है। इस दयनीय स्थिति में उसका पथ निहारना उसे और अधिक दीन बना रहा है। वह निरंतर मन में यह उम्मीद लगाये हुए है कि न जाने कब प्रियतम इस पथ से आते हुए दीख जाएं। उसकी यह उम्मीद हर क्षण निराश ही होती है। ऐसी स्थिति में विरह का हर क्षण विरहिणी के लिए एक स्थिर काल बन जाता है। इस स्थिर काल में वह लगातार उस आवेग की तरफ बढ़ती जाती है जो विक्षिप्तता की ओर ले जाता है। इसी अवस्था में उसे कोई पथिक उसी ओर जाता हुआ दिखायी देता है। पथिक को उधर जाते हुए देखकर स्थिर काल एक झटके में गतिवान हो जाता है। एक ओर तो यह घोर निराशा में

आशा की एक किरण की गति है तो दूसरी ओर समानधर्मी स्त्री का अनुमान करके उठने वाली टीस की एक तेज लहर है। किसी स्त्री का पति आज वैसे ही जा रहा है जैसे कभी उसका प्रिय गया था। एक ओर जहाँ आशा की उत्तेजना है वहीं दूसरी ओर दुःख का आवेग। इसी कारण अन्तर और बाह्य दोनों अस्थिर हो जाता है। अस्थिरता के इसी मनोवेग के साथ विरहिणी पथिक के पास जाने लगती है। अन्तर–बाह्य दोनों के एक झटके से चलायमान होने के कारण उसकी स्थिति और अधिक दीन हो गयी है –

तं जि पहिय पिक्खेविणु पिअउक्कंखिरिय,
मंथरगय सरलाइवि उत्तावलि चलिय।
तह मणहर चल्लंतिय चंचलरमणभरि,
छुड़वि खिसिय रसणावलि किंकिणरव पसरि।।
तं जं मेहल ठवइ गंठि णिटठुर सुहय,
तुडिय ताव थूलावलि णवसरहारलय।
सा तिवि किवि संवरिवि चइवि किवि संचरिय,
णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पंखुडिय।।[8]

पथिक को देखकर विरह–व्याकुल नायिका अपनी स्वाभाविक गति को छोड़कर उतावली से चल पड़ती है। उतावली होकर चलने के कारण नायिका की करधनी खुलकर खिसक जाती है और किंकिणियों की आवाज फैल जाती है। अभी करधनी की गाँठ बाँधकर ठीक करती ही है कि तब तक स्थूल मुक्ताओं वाली नवीन हार लता भी टूटकर बिखर जाती है। जैसे–तैसे कुछ मोतियों को बटोरकर और कुछ को छोड़कर आगे बढ़ती है कि तब तक पैरों में फँसकर नूपुर रास्ते में ही बिखर गया। पथिक तक पहुँचने की उतावली में कभी उसका शिरोवस्त्र हट जाता है तो कभी उसकी चोली फट जाती है। गिरते–पड़ते वह किसी तरह पथिक के पास पहुँचती है। कितने दिनों की जड़ता के बाद की यह उत्तेजना रही होगी। साथ ही यह भय भी कि कहीं पथिक जल्दी से आगे न निकल जाय। पथिक तक पहुँचने में आने वाली उपर्युक्त बाधाओं के दौरान खुद को सम्भालने में आशा और निराशा के कितने मनोभाव क्षण–क्षण पर उसके मन में उठते रहे होंगे। यह दृश्य संदेशरासक का केन्द्रीय भाव और पूरी कविता की आधारभूमि है। नायिका ने अपने दुःख के विषय में अभी तक एक शब्द भी नहीं कहा है सिर्फ उसकी भावविकल चेष्टाओं का चित्र कवि द्वारा उपस्थित किया गया है। ऐसी दुखियारी की आवाज सुनकर कौन ऐसा मनुष्य होगा जो क्षण भर के लिए ही सही ठिठक न जायेगा। पथिक भी, न तो आगे बढ़ सका और न ही पीछे लौट सका। विधाता की ऐसी सुंदर रचना के साक्षात्कार ने उसे

जस का तस ठिठका दिया और कुछ बोलने से पहले मन में भाव भी ऐसा आया जिसने ब्रह्म को ही अंधा और अरसिक बना दिया –

किं न पयावइ अंधलउ अहव वियड्ढलु आहि।
जिणि एरिसि तिय णिम्मविय ठविय न अप्पह पाहि।।[9]

विधि की सर्वश्रेष्ठ रचना को ऐसी दयनीय स्थिति में देखकर पथिक के मन में उठने वाला भाव भी स्वाभाविक ही है, यह अतिरेक नहीं कहा जायेगा। इस दुखियारी के लिए पथिक थोड़ी देर रुक जाता है और बताता है कि वह खम्भात जा रहा है। खम्भात का नाम सुनना था कि एक बार फिर दुःख का तेज झोंका उसके पूरे शरीर को झकझोर देता है –

एय वयण आयन्नवि सिंधुब्भवयणि,
ससिवि सासु दी हुन्हउ सलिलुब्भवनयणि।
तोड़ि करंगुलि करुण सगग्गिर गिरपसरू,
जालंधरिव समीरि मुंध थरहरिय चिरू।।[10]

करुणा की एक तेज लहर नायिका के सम्पूर्ण अंतर–बाह्य को एक बार फिर हिलोर देती है। देह और मन दोनों की यह थरथराहट, "खंभाइत्तिहि णामि पहिय तणु जज्जरिउ" के रूप में मुख से बाहर निकलती है। 'खम्भात' उस विरहिणी के लिए स्थान–विशेष नहीं रह गया है। खम्भात उसके सम्पूर्ण दुःख का मूल बन गया है। वह दीर्घकाल के करुणा, विलाप और निराशा का प्रतीक बन गया है जिसने नायिका के पूरे शरीर को वास्तव में जर्जर कर दिया है। अभी तक तो पथिक तक पहुँचने और उसे रोकने का आवेश था और अब जब अपनी दशा के बारे में पथिक से कुछ कहना है तो कैसा संकोच हो रहा है, मानो मृत्यु ही प्रेम की एकमात्र कसौटी हो। तुलसीदास ने भी इसे वर्णित किया है –

अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना।।[11]

संदेश देने में भी सहृदया को लज्जा आ रही है। जीवित होना ही इतनी आत्मग्लानि का कारण। यक्ष ने भी मेघ से संदेश भेजा था लेकिन अपने जीवन को लेकर उसके मन में तो ऐसी ग्लानि नहीं थी बल्कि उसे यह उम्मीद थी कि उसका कुशल जानकर उसकी प्रियतमा सकुशल रहेगी। फिर स्त्री को प्रिय–वियोग में जीवित रहने पर इतना पश्चाताप क्यों ? नायिका के इस भाव के पीछे अवश्य ही प्रिय के अविश्वास की

आशंका है अन्यथा एक लम्बे समय बाद कोई संदेशवाहक मिला है और उस पर यह कथन –

कंतु कहिब्बउ भंति विणु धू पंथिय जाणाइँ।
अज्जवि जीविउ कंत विणु तिणि संदेसइ काइँ।।[12]

हे पथिक ! मैं निश्चित जानती हूँ कि प्रेम के बिना प्रिय को कंत कहना उचित नहीं है। आज भी जो कंत के बिना जीवित है उसके संदेश देने से क्या ? एक ओर तो प्रिय के प्रति संशय, आत्मग्लानि के कारण संदेश की निरर्थकता का बोध तो दूसरी ओर मन की विवशता है। कैसा अजीब द्वन्द्व है ! इसे पूर्ण रूप में द्वन्द्व भी नहीं कहा जा सकता। यह दो एकदम विपरीत भावों का ऐसा संयोग है जो सामने वाले को भी करुणार्द्र कर देता है। संदेश–कथन के प्रारम्भ में भी सबसे पहले प्रियतम की निराधार आशंका का ही निराकरण है –

तुह विरहपरहरसंचूरिआइँ विहडंति जं न अंगाइँ।
तं अज्ज–कल्ल–संघडण–ओसहे (आसहे ?) णाह तग्गंति।।[13]

विरह द्वारा सताये जाने के बाद भी मेरे अंग टूटकर इसलिए अलग नहीं हुए हैं क्योंकि आज या कल तुमसे मिलने की आशा रूपी औषधि इन्हें टूटने नहीं देती।

स्त्री मन की भी कैसी विडम्बना है ! जिसके कारण वह इतना दुःख भोग रही है उसी से अपनी वास्तविक स्थिति बताने के लिए इतने सारे तर्क देने पड़ रहे हैं। कैसा है उसका जीवन जो प्रिय द्वारा उसी प्रकार छोड़ दिया गया है जैसे यमराज द्वारा साँसें ! कितने कष्ट में होगा वह व्यक्ति जो यम से अपनी साँसों को ले जाने की याचना कर रहा है। कितना निरर्थक होगा उस स्त्री का जीवन जिसे मृत्यु इतनी प्रिय हो गयी है कि यमराज की तुलना वह अपने प्रियतम से कर रही है। नायिका के इस कथन में छिपे तौर पर कितनी उलाहना है –

पिअविरहानलसंतविअ जइ वच्चउ सुर लोइ।
तुह छड्डिवि हियअट्ठियह तं परिवडि ण होइ।।[14]

हे प्रियतम ! तुम मेरे हृदय में स्थित हो और तुम्हारी ही विरहाग्नि से संतप्त होकर यदि मैं सुरलोक चली जाऊँ तो यह (शिष्ट जन की) परिपाटी नहीं होगी। तुमने तो प्रेम की परिपाटी का भी निर्वाह नहीं किया। मुझे विरहज्वाल में जलने के लिए छोड़कर चले गये। मैं शरीर को न त्याग कर कम से कम शिष्ट जन की परिपाटी का तो निर्वाह

कर रही हूँ। इस दोहे के माध्यम से नायिका अपनी प्रतिबद्धता को स्पष्ट करती है तो ठीक इसके अगले दोहे में पति के कर्त्तव्यच्युत होने के कारण उसे उसके स्वाभिमान का भी स्मरण दिलाती है –

कंत जु तहँ हिअयठ्ठियह विरह विडंबइ काउ।
सप्पुरिसह मरणाअहिउ परपरिहव संताउ।।[15]

कंत ! तुम्हारे हृदय में स्थित होते हुए भी विरह मेरी काया को विडंबित कर रहा है। सत्पुरुषों के लिए तो दूसरों से पराभव मरण से भी अधिक होता है। कितनी स्वाभाविकता है इस कथन में एक ओर तो वह अपने कर्त्तव्य पथ पर अडिग है दूसरी ओर प्रियतम के विचलित हो जाने के कारण उसे उसके कर्त्तव्य का स्मरण भी दिला रही है। विरह से अपनी रक्षा करने के लिए वह पति के पौरुष को ललकारती है। वह कहती है कि यह कितना बड़ा परिहास मैं सह रही हूँ। कभी मेरे जिन अंगों का तुम्हारे जैसे वीर पराक्रमी से संयोग हुआ था, विरह उन्हीं अंगों को जला रहा है। पत्नी के संरक्षण के उत्तरदायित्व का ध्यान पति को वह एक सुगृहिणी की भाँति दिलाती है। उसके इन कथनों से स्पष्ट है कि वह एकांत–विलाप करने वाली अबला नहीं बल्कि जीवन के कर्मक्षेत्र में हर कर्त्तव्य का पालन करने वाली और पति को भी उसके कर्त्तव्यों का बोध कराने वाली गरिमामयी नारी है। आदिकालीन नारी चरित्रों का वह दर्प इस विरहिणी स्त्री में भी है जो जीवन के विस्तृत पटल पर हर समय पति के साथ तत्परता से स्थित रहती है। वह चाहे पुष्प–शय्या हो या युद्ध–क्षेत्र।

विरह ताप से दिन–रात जलने वाली अपनी काया को उससे बचाने का कोई उपाय उसके पास नहीं है। असमर्थता के कारण ही वह निरंतर रोती रहती है। अपनी दीनता को प्रकट करने के लिए उसने कुछ लोकप्रचलित रूढ़िगत कथनों का भी प्रयोग किया है –

संदेसडउ सवित्थरउ हउँ कहणहँ असमत्थ।
भण पिय इक्कति बलियडइ बेवि समाणा हत्थ।।
संदेसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहणु न जाइ।
जो कालंगुलि मूँदडउ सो बाँहडी समाइ।।[16]

कहना तो वह बहुत कुछ चाहती है लेकिन कह नहीं पा रही है। इस आवेग में बहुप्रचलित यह कथन उसके मुख से निकल जाता है कि प्रिय से कहना कि दुर्बलता के कारण एक ही वलय में मेरे दोनों हाथ समा जाते हैं। इतने से भी हृदय का वह

अनकहा आवेग संतुष्ट नहीं होता और वह उसी रौ में फिर कह जाती है कि जो कनिष्ठिका उँगली की मुँदरी थी उसमें मेरी बाँह समा जाती है। विरह–वर्णन के क्रम में यह कथन उसकी काया से अधिक मन की दीनता को स्पष्ट करता है। उस दुखिया को अपनी मानसिक स्थिति प्रकट करने के लिए शब्द नहीं मिला तो शारीरिक दुर्बलता के इस लोकप्रचलित कथन से ही अपनी मनःस्थिति की ओर पति का ध्यान ले जाना चाहती है। इसलिए उसके उपर्युक्त कथनों को हृदयजन्य आवेग की श्रेणी में रखना चाहिए।

अभी तो बिचारी विरहिणी को स्वतः शब्द नहीं मिल रहे थे तब तक पथिक भी जाने के लिए उतावला हो उठा। उसके उतावलेपन के कारण वह और विरहदग्ध होकर रोने लगती है। परपुरुष के समक्ष इस प्रकार रोना कितना सही है और कितना गलत, इसका भी उसे पूर्ण बोध है। फिर भी मानसिक संताप के कारण वह विवश है –

अणियत्तखलं जलवरिहणेण लज्जंति नयण नहु धिट्ठा।
खंडववणजलणं विय विरहग्गी तवइ अहिययरं।।[17]

वर्षा और अग्नि एक–दूसरे के विपरीत हैं लेकिन कैसी विडम्बना है कि इस प्रोषितपतिका को दुःख देने के लिए दोनों एक हो गये हैं। एक तो उसके धृष्ट नेत्र हैं जिनका गिरना कभी निवृत्त नहीं होता। सारी लोक–मर्यादा को लाँघकर वे कभी भी, कहीं भी आँसुओं की वर्षा करने लगते हैं तो दूसरी ओर विरह की अग्नि इस वर्षा से बुझती नहीं बल्कि खांडव वन में लगी हुई आग के समान और तेज हो जाती है। इस गाथा के बाद विरहिणी पथिक से संदेश में दो चउपई और कहने को कहती है। प्रिय को कापालिक और स्वयं को कापालिनी कहती हुई वह अपनी विरह–जन्य जड़ता को बताती है। विरहाग्नि में झुलसकर काली पड़ गयी अपनी देहकांति के कारण पति को निशाचर और स्वयं को निशाचरी कहती है। पथिक के समयाभाव में अपनी विवशता बताती हुई लेखन न कर पाने की असमर्थता प्रकट करती है। वह इस योग्य भी नहीं है कि पत्र लिखकर प्रियतम के पास भेज दे, मौखिक संदेश मात्र दे सकती है। इस मौखिक संदेश का भी कोई फलाफल उसे समझ में नहीं आ रहा है। जो प्रियतम इतना निठुर हो गया है उससे संदेश–कथन से भी क्या लाभ है ? उस निर्दयी को तो मात्र धन का ही लोभ है। उस धन–लोभी को पत्नी के दुःख से क्या फर्क पड़ता है –

जिणि हउ विरहह कुहरि एव करि घल्लिया,
उत्थलोहि अकयत्थि इकल्लिय मिल्हिया।[18]

किसी स्त्री के लिए यह कितना बड़ा मानसिक संताप होगा कि मात्र थोड़े से

धन के लिए उसका पति उसे इस प्रकार मरने के लिए छोड़ दे। रत्नसेन तो नागमती से भी अधिक सुंदरी पद्मावती को प्राप्त करने गया था। इस स्त्री का सिर्फ यही मूल्य है; इसके पति के लिए धन इसके जीवन से अधिक मूल्यवान है। इसीलिए तो प्रवास को जाते हुए प्रियतम ने उसकी वेदना नहीं सुनी –

णेय सुणिय परवेयण निन्नेह चलह।[19]

यक्ष की तो विवशता थी, वह तो शापित था लेकिन नायिका का पति उसे इस प्रकार क्यों छोड़ गया। ऐसे प्रियतम के लिए यदि निर्दयी, अकृतार्थ, खल आदि सम्बोधन निकलते हैं तो प्रेमातिरेक में स्वाभाविक हैं। इसी उद्वेग में विरहिणी को संयोग के दिनों का स्मरण हो आता है। प्रियतम के आलिंगन, उसके अवलोकन का स्मरण हो आता है लेकिन वर्तमान में तो यह स्वप्न में भी सम्भव नहीं। जब से प्रियतम गया है उस दिन से उसे नींद भी नहीं आयी कि वह स्वप्न में ही पति का संग–सुख पा सके –

इम कहिय पहिय तसु णिद्दयह जइय कालि पवसियउ तुहु।
तसु लइ मइ तणि णिंद णहु को पुणु सुविणइ संगसुहु।।[20]

एक तो पति छोड़कर चला गया, दूसरे उस विरहाकुल मुग्धा का रूप भी उसे छोड़ गया। दोनों ओर से वंचित वह विरहिणी अब अपना अवलम्ब कहाँ ढूँढे –

तसु सुयण निवेसिय भाइण पेसिय मोहवसण खणे,
मह सामिय वक्खरू हरि गउ तक्खरि जाउँ सरणि कसु पहिय भणे।।[21]

पति द्वारा त्याज्यावस्था में भी उसे अपने प्रिय की ही चिंता है। अपने खोये हुए रूप को भी वह पति की ही निधि मानती है क्योंकि कभी प्रिय ने उसे अपने सुंदर शरीर से लगाया था, उसे प्रेमपूर्वक निहारा था। प्रिय की वस्तु उसका रूप भी लुट गया। विरह रूपी चोर ने उसे चुरा लिया अब वह किसकी शरण में जाये। उसे निरंतर यह चिंता भी बनी रहती है कि उससे तो कोई दोष भी नहीं हुआ जिस कारण अनुरक्त प्रिय विरक्त हो जाये। फिर वह पूर्वसमय का स्मरण करती हुई कहती है कि यदि उसे पता होता कि विरह की अवस्था में इस प्रकार उसका सुख नष्ट हो जायेगा तो उसी समय सुख को उत्पन्न करने वाले प्रियतम का जो राग और स्नेह था उसे कुसुंभी रंग के घड़े में भरकर रख लेती और आज जो उसका विरक्त पति है, वह अपने हृदय को उसमें डुबो लेता –

जइ विरइ विरामे णट्ठसोहो मुणंती,
सुहइ तइय राओ उग्गिलंतो सिणेहो।

भरवि नवयरंगे इक्कु कुंभो (इक्कि कुंभे ?) धरंती,
हियउ तह पडिल्लो वोलियंतो विरत्तो।।[22]

तभी उस मुग्धा को ध्यान आता है कि यदि वस्त्र रंग छोड़ दे तो उसे फिर से रंगा जा सकता है। यदि अंग स्नेहहीन (रूखे) हो जाये तो उसे मालिश द्वारा चिकना बनाया जा सकता है। जुए में हारे हुए धन को पुनः जीतकर पाया जा सकता है, लेकिन प्रिय के विरक्त हृदय को किस प्रकार लौटाया जाए –

जइ अंबरू उग्गिलइ राय पुणि रंगियइ,
अह निन्नेह होइ अंग अब्भंगियइ।
अह हारिज्जइ दविणु जिणिवि पुणु भिट्टियइ,
पियह विरत्तउ हियउ पहिय किम वट्टियइ।।[23]

पथिक नायिका को धैर्य धारण करने के लिए कहता है और प्रवासी की विवशताओं को भी बताता है। उसे रोने से बार–बार रोकता है। क्षण भर के लिए विरहिणी अपने आँसू पोंछ लेती है लेकिन आँखों की वर्षा को रोक पाना उसके लिए असम्भव है। अंततः पथिक को कहना पड़ता है कि मार्ग में जाते हुए रोकर मेरा अमंगल मत करो, अपने आँसुओं को रोको। इस पर नायिका कहती है कि मैं रो नहीं रही हूँ वो तो विरहाग्नि से मेरे नयन स्रवित हो रहे हैं। इस कथन में विरहिणी के बाह्य शारीरिक दशा के माध्यम से आतंरिक स्थिति को उजागर किया गया है। पूरे विरह–वर्णन में शारीरिक चेष्टाओं और बाह्य दशा का ही चित्रण अधिक है लेकिन यह वर्णन अंतस् तक पहुँचने का मार्ग है। जैसे–जैसे शरीर की बाह्य दशा का चित्रण बढ़ता जाता है वैसे–वैसे हृदय की वेदना मुखर होकर सामने आती जाती है।

नायिका को एक ओर तो प्रिय आगमन की आशा है वहीं दूसरी ओर लम्बे समय से प्रिय–वियुक्त होने के कारण निराशा भी बढ़ती जा रही है। विरह–जन्य निराशा उसके हृदय को और अधिक आच्छादित करती जा रही है। आशा और निराशा के इस द्वन्द्व में न तो वह जी पा रही है और न ही मर पा रही है। वह कहती है कि आशा के जल से संसिक्त और विरह की ऊष्मा से जलती हुई मैं न जीती हूँ न मरती हूँ, बल्कि इसी में धुकधुकाती रहती हूँ –

णहुँ जीवउँ णहु मरउँ पहिय अच्छउँ धुक्खत्तिय।[24]

समस्त बाह्य दशा उसके अंतस की झाँकी है। अपनी आंतरिक दशा को रूपक के माध्यम से स्पष्ट करते हुए कहती है –

सुन्नारह जिम मह हियउ पिय उक्किंख करेइ।
विरह हुयासि दहेवि करि आसा जल सिंचेइ।।[25]

जैसे सुनार पहले तो सोने को आग में तपाता है फिर उसे जल में डालकर ठंडा करता है, वैसे ही सुनार रूपी मेरा हृदय पहले तो प्रिय के प्रति उत्कंठा उत्पन्न करता है फिर उसे प्रिय–मिलन रूपी आशा के जल से सींचता है।

धीरे–धीरे दिन ढलता जा रहा है और पथिक भी बार–बार जाने की शीघ्रता कर रहा है। नायिका पथिक से रात्रि–विश्राम का आग्रह करती है लेकिन वह रात में ही जाने को तत्पर है। इसीलिए वह उससे कहता है कि तुम चिंता मत करो मैंने जितना देखा या सुना है उससे अधिक ही कहूँगा। अब तुम अपने घर जाओ। इस पर नायिका एक स्कंधक और द्विपदी कहती है, जिसे सुनकर पथिक को रोमांच हो आता है और वह स्वयं नायिका के प्रेम का अनुभव करने लगता है। इस बार नायिका को विश्वास हो गया था कि अब वह पथिक को और अधिक देर तक नहीं रोक पायेगी इसीलिए अपनी पूरी वेदना का सार इस स्कंधक और द्विपदी में कह डालती है –

"मह हिययं रयणनिही महियं गुरु मंदरेण तं णिच्चं।
उन्मूलियं असेसं सुहरयण कडिठयं च तुह पिम्मे।।
मयण समीर बिहुय विरहाणलादिट्ठिफुलिंगणिब्भरो,
दुसह फुरंत तिब्ब मह हियइ निरंतर झाल दुद्धरो।
अणरइछारूछित्तु पच्चिल्लइ तज्जइ ताम दड्ढए,
इहु अच्चरिउ तुज्झ उक्कंठि सरोरूह अम्ह वड्ढए।।

मेरा हृदय रूपी रत्ननिधि तुम्हारे प्रेम के गुरू मंदर से नित्य मथित हो रहा है। उसने सभी सुखरत्नों को अशेष रूप से उन्मूलित करके काढ़ लिया है। मदनसमीर से धौंकी हुई विरहाग्नि आँख से निकली हुई चिंगारियों से भर गयी और मेरे हृदय में स्फुरित होती हुई जल रही है। निरंतर ज्वाला से उसका धारण करना कठिन हो गया है। बेचैनी का क्षार अर्थात् कोयला क्षिप्त होते रहने से यह विरहाग्नि और भी तीव्र हो उठती है और मुझे जलाती और डराती रहती है। यह आश्चर्य है कि तुम्हारी उत्कंठा के कारण मेरा सरोरूह बढ़ता रहता है।"[26]

उपर्युक्त दोनों छंदों में कहीं भी किसी शारीरिक चेष्टा या बाह्य दशा का कोई वर्णन नहीं है सिर्फ आंतरिक भावों का निरूपण है। ऐसे छंद अन्य कई स्थलों पर भी हैं लेकिन यह विरह–भाव–निरूपण का चरम है और यहाँ पर पथिक का नायिका की

प्रेमानुभूति से परिवेष्टित होना स्वाभाविक है। यहीं से कवि को विरह–वर्णन का एक अंग षड्ऋतु वर्णन का भी अवकाश मिल जाता है। संदेशरासक के विरह–वर्णन में शास्त्र–वर्णित सभी दशाओं और विरह–वर्णन की पद्धतियों का पूर्ण समावेश है लेकिन ये शास्त्रीय क्रम में नहीं है। विरह की दसो दशाएं इसमें उपलब्ध हैं लेकिन शास्त्र–वर्णित क्रम में नहीं बल्कि हृदय के आवेग और वेदना को धीरे–धीरे पूरी गहराई तक अभिव्यक्त करने के क्रम में। इससे वेदना की अभिव्यक्ति की तीव्रता निरंतर गहरी होती जाती है। एक स्थल पर ऊहात्मक वर्णन भी आ गया है। नायिका कहती है कि प्रिय के आगमन की आशा से जर्जर शरीर पर जो माँस चढ़ता है, वह विरहाग्नि की ज्वाला से शीघ्र झड़ जाता है –

जं पियआसासंगिहि अंगिहि पलु चडइ,
विरहहुयासि झलक्कि पडिल्लिउ तं झडइ।।[27]

कवि यहाँ प्रिय आगमन की आशा से उत्फुल्ल और विरहानल की अनुभूति से संतप्त नायिका की स्थिति स्पष्ट करना चाहता है। इसी प्रयास में यह वर्णन ऊहात्मक हो गया है।

ऋतुवर्णन भी विरह–वर्णन का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। षड्ऋतु वर्णन के लिए जिस स्थल का चयन कवि ने किया है वह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। हृदय की गहरायी तक तीव्र संवेदना जगाकर वहाँ से ऋतुवर्णन की ओर प्रवृत्त होना विरह–काव्य को पूर्णता प्रदान करता है।

2.2 संदेशरासक में विरह–वर्णन : शिल्प–विधान

काव्यरूप की दृष्टि से 'संदेशरासक' खण्डकाव्य के अंतर्गत आता है। ग्रंथ के शीर्षक से स्वतः स्पष्ट है कि इसका बाह्य कलेवर 'रासक' का है और आंतरिक तत्त्व संदेश का। कवि ने इन दोनों में से किसी की उपेक्षा नहीं की है। संदेशरासक से पूर्व और उसके समय में भी रासकों की रचना की जा रही थी लेकिन उसका आंतरिक तत्त्व कहीं चरित्र–वर्णन था तो कहीं धार्मिक। शुद्ध लौकिक कथाओं के आधार पर रचित रचनाओं का अंत भी जैन धर्म के सिद्धांतों में कर दिया जाता था। ऐसे समय में प्रारम्भ से लेकर अंत तक शुद्ध लौकिक कथा का प्रतिपादन रासक नाम से करना अपने आप में क्रांतिकारी है। प्राकृत–काव्य और गीति–विषय में निपुण कवि को 'रासक' से अन्य अर्थ ध्वनित होने की भी पूरी जानकारी है। ऐसे में 'संदेशरासक' शीर्षक का चुनाव और उसकी आत्मा विरह को

लेकर रचना करना कवि को निश्चित रूप से विशिष्टता प्रदान करता है। इसीलिए उसकी रचना भी प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी की विशिष्ट रचना बन गयी है।

संदेशरासक अनुभूति प्रधान काव्य है। इसमें विरह जैसे संवेदनात्मक विषय के लिए 'रासक' काव्य रूप का चुनाव किया गया है। इस रासक की रचना अपभ्रंश के छंदशास्त्रियों द्वारा दिए गए लक्षणों के आधार पर की गयी है। पूरे 'संदेशरासक' में बाईस प्रकार के छंदों का प्रयोग है और उसमें भी सर्वाधिक 'रासा' छंद का प्रयोग किया गया है। ग्रंथ का एक तिहाई भाग रासा छंद में है और इसका प्रयोग भी बहुत सावधानीपूर्वक विशेष स्थलों पर किया गया है। जहाँ कवि को अनुभूति की तीव्रता को और अधिक बढ़ाना है वहाँ रासा छंद का प्रयोग कर देता है। रासा छंद भाव की संवेदना को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करने में सक्षम है; कवि की यह मान्यता पूरी रचना में दिखायी देती है। विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार –

" ... जहाँ–जहाँ रासा छंद आया है, वहाँ–वहाँ वह अपनी सहज गति–भंगिमा के कारण एक विशेष प्रभाव उत्पन्न करता है। ... ग्रीष्म और शिशिर वर्णनों को छोड़कर रासा छंद का प्रयोग प्रायः उन्हीं स्थलों पर हुआ है जो नायिका की चेष्टाओं अथवा विभिन्न मनोदशाओं का चित्रण करते हैं। ... कथा–सूत्रों को जोड़ने अथवा अपनी तरफ से कुछ कहने के लिए गाहा का प्रयोग करता है और लम्बे–लम्बे छन्दों का प्रयोग करते–करते जैसे एकरसता समाप्त करने के लिए दोहा ले आता है।"[28]

अपभ्रंश–साहित्य में छंदों की एक समृद्ध परम्परा थी। यह छंद–परम्परा संगीतात्मक अधिक थी। रासक के संदर्भ में नृत्य–भेद से गेयरूपक तक पहुँचने की परम्परा पर बात की जा चुकी है। रासक का मुख्य छंद 'रासा' गीति की उस विशेषता को वहन करने में सक्षम है जिसमें व्यक्ति भावों को सीधे–सीधे अभिव्यक्त कर सके। रासक को गेयरूपक का स्थान प्राप्त करने में रासा छंद का विशिष्ट योगदान है। 'प्राकृतपैंगलम' में रासा या रासक नामक किसी छंद की कोई चर्चा नहीं है। हरिवल्लभ भयाणी ने 'रासा या आहाणउ' नाम से इस छंद पर विचार किया है।

प्राकृत से पहले की छंद परम्परा वार्णिक थी। प्राकृत में भी आरम्भ में उसी प्रकार के वार्णिक छंदों का व्यवहार होता था। प्राकृत में मात्रिक छंदों का आगमन लोक–संगीत के प्रभाव से हुआ। यही मात्रिक छंद प्राकृत की अपनी छंद–परम्परा बन गये। इन छंदों में कवि वर्णों की अपेक्षा मात्रा पर अधिक ध्यान देने लगा। इसी कारण प्राकृत–साहित्य की छंद परम्परा अतुकांत मात्रिक छंदों की है। 'गाहा' (गाथा) इस परम्परा का प्रतिनिधि छंद है। प्राकृत में मात्रिक छंदों का आविर्भाव तो लोक–संगीत के प्रभाव से

हुआ लेकिन ताल और तुक के अभाव में ये अधिक संगीतात्मक नहीं रह पाये। अपभ्रंश के छंदों की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है – मात्रा के साथ ही साथ ताल का नियमन। सभी अपभ्रंश–छंदों में ताल या तुक मिले ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है। ऐसे भी अपभ्रंश–छंद हैं जिनमें सिर्फ मात्राओं का ही महत्त्व है। अब्दुल रहमान ने अपभ्रंश के छंदों की मुख्य विशेषता संगीतात्मकता को केन्द्र में रखते हुए विभिन्न छंदों का प्रयोग संदेशरासक में किया है। अब्दुलरहमान ने संदेशरासक में छंदों का प्रयोग रूढ़ काव्यशास्त्रीय आधार पर नहीं किया है। वर्णन क्रम में जैसा भाव आया, उसे उसी रूप में प्रकट करने के लिए जो छंद सर्वाधिक उपयुक्त लगा उसका प्रयोग कर दिया गया है। शास्त्रीय नियमों को ऊपर से थोपा नहीं गया है जैसे 'अडिल्ला' में 'यमक' व्यवस्था का पालन कहीं भी रूढ़िग्रस्त तरीके से नहीं हुआ है। कुछ स्थानों पर तो अडिल्ला में यमक की जगह अनुप्रास का प्रयोग है।

संदेशरासक की छंद विविधता में भावात्मक साम्य दिखायी देता है। रासा के सम्बन्ध में तो कहा ही जा चुका है कि अनुभूति की तीव्रता बढ़ाने वाले स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है। गाथाओं का प्रयोग तीव्र अनुभूति को उसी रूप में और तुरंत ही सम्प्रेषित करने के क्रम में हुआ है। विरहिणी को देखते ही पथिक के मन में जो भाव उठते हैं, उन्हें वह एक के बाद एक लगातार आठ गाथाओं में प्रकट करता चलता है। द्वितीय प्रक्रम की समाप्ति पर प्रिय–वियोग के दिन को स्मरण कर विरहिणी लगातार चार गाथाओं में ग्रीष्म ऋतु को उपालम्भ देती है। संदेश–कथन में जब क्षण विशेष पर ही कोई बात स्पष्ट करनी है तो नायिका गाथा छंद में बात कहती है। जहाँ संदेश कथन में विस्तार की गुंजाइश है वहाँ चउपइय, डोमिलक, अडिल्ला, मालिनीवृत्त, वत्थु आदि छंदों का वह व्यवहार करती है। जहाँ नायिका को निर्णयात्मक रूप से कुछ कहना है वहाँ अप्रस्तुतों के माध्यम से भावों का प्रकटीकरण है। ऐसे स्थलों पर मुख्यतः दोहा, फुल्लक और खंधक का प्रयोग है।

संदेशरासक की छंद विविधता से स्पष्ट है कि भले ही रचनाकार सामान्य जन के लिए रचना कर रहा है लेकिन पूर्ववर्ती काव्य परम्परा और शास्त्रों का ज्ञान उसकी रचना पर प्रभावी है। यह वैसे ही है जैसे तुलसी ने भाषा में रामचरितमानस की रचना करते हुए महाकाव्यों की पूरी परिपाटी का निर्वाह किया है। अब्दुलरहमान ने भी जन की भाषा में संदेशरासक की रचना की है, लेकिन एक शास्त्र–ज्ञानी कवि का पूरा प्रभाव उसकी रचना पर है। संदेशरासक की भाषा ग्राम्य अपभ्रंश है लेकिन रचना का बाह्य व आंतरिक कलेवर शास्त्र–सम्मत है। शास्त्र–सम्मत होने के बावजूद इसमें कहीं रूढ़ शास्त्रीयता का निर्वाह नहीं किया गया है।

जिस अपभ्रंश की रचना संदेश–रासक मानी जाती है वह निर्मित होती हुई भाषा का एक रूप है। संदेशरासक में प्रयुक्त भाषा का रूप पूरी तरह निश्चित नहीं है बल्कि वह निश्चित स्वरूप तलाशती हुई भाषा का एक नमूना है। संदेशरासक के रचनाकाल तक साहित्यिक अपभ्रंश का रूप निश्चित हो चुका था। ऐसे में बोलचाल की भाषा को अब्दुलरहमान ने अपनी रचना का आधार बनाया। भाषिक स्तर पर अब्दुलरहमान ने उस समय के साहित्यिक अपभ्रंश के नियमों का पालन न करके लोक–प्रचलित भाषा को ही अपनाया। इसी कारण संदेशरासक में विभक्ति–लोप, परसर्गों की बहुलता, समासों की स्वतंत्र प्रवृत्ति अधिक मिलती है। भाषा की इन विशेषताओं के आधार पर ही कुछ विद्वानों ने संदेशरासक को हेमचंद्र से काफी बाद की रचना स्वीकार किया है। संदेशरासक भाषा के स्तर पर भी हेमचंद्र के समय की ही रचना जान पड़ती है। भाषा की उपर्युक्त विशेषताएँ हेमचंद्र के व्याकरण में भी कुछ अंश में विद्यमान हैं। हेमचंद्र द्वारा उदाहरणस्वरूप दिए गए दोहों में भी ये विशेषताएं कुछ हद तक पायी जाती हैं। जबकि यह माना जा चुका है कि ये दोहे हेमचंद्र से पहले के लोक–प्रचलित दोहे हैं। जब हेमचंद्र के पहले के इन लोक–प्रचलित दोहों में भाषा का यह स्वरूप कुछ अंश में विद्यमान है तो हेमचंद्र के समय में भाषा–परिवर्तन की यह प्रवृत्ति आम बोलचाल में और अधिक बढ़ी होगी। संदेशरासक में सभी विभक्तियों का लोप, एक ही अर्थ के लिए कई परसर्गों का प्रयोग आदि भाषा–परिवर्तन की इसी प्रक्रिया के द्योतक हैं। भाषा–परिवर्तन के विभिन्न रूपों के आधार पर संदेशरासक को हेमचंद्र के काफी बाद की रचना नहीं माना जाना चाहिए। यदि हेमचंद्र के बाद संदेशरासक की रचना हुई होती तो उसमें भाषा–परिवर्तन की एक निश्चित दिशा का निदर्शन अवश्य होता।

अब्दुलरहमान का भाषा पर पूरा अधिकार है। सामान्य जन द्वारा प्रयुक्त भाषा में रचना करने के बावजूद कवि की साहित्यिक भाषा का ज्ञान कहीं–कहीं प्रभावी हो गया है। कहीं–कहीं अब्दुलरहमान ने काव्य–परम्परा के अनुसार भाषा का इस्तेमाल किया है जैसे गाथा छंदों में भाषा पूरी तरह प्राकृत के परिनिष्ठित रूप से प्रभावित है। ऐसे ही कहीं–कहीं छंदों मे मात्रा की पूर्ति के लिए शब्दों को अपनी इच्छानुसार ह्रस्वीकरण, दीर्घीकरण, द्वित्त्वीकरण आदि प्रक्रियाओं से गुजारा गया है। भाषा और छंद में प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा में पूरी दक्षता के बावजूद कवि ने संदेशरासक के शिल्प को परम्परा–पालन से इतर नवीनता देने की पूरी कोशिश की है। संदेशरासक के शास्त्र–सम्मत कलेवर के बाद भी उसे भरसक सामान्य रूप देने का पूर्ण प्रयास अब्दुलरहमान ने किया है। इसीलिए संदेश–कथन और विरह–वर्णन के क्रम में कवि ने कुछ नये प्रयोग भी किए हैं। संदेश–कथन में इन प्रयोगों का आधार लोकगीतों की परम्परा है।

इसी क्रम में अब्दुलरहमान ने संदेशरासक में संवाद–योजना की है। विरह प्रसंगों में ज्यादातर एकालाप ही रहता है। इसीलिए पथिक और नायिका के बीच कुछ संवाद विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाता है। विरह–वर्णन में संवाद की ऐसी स्थिति निश्चित रूप से लोक की देन है। लोकगीतों में कहीं भी ऐसा संवाद मिल सकता है। भिखारी ठाकुर के 'बिदेसिया' में भी इसी कारण 'बटोही' को स्थान मिला है। अब्दुलरहमान लोक की हर रीति और नीति में पगे हुए हैं तभी पथिक की अवधारणा इतने स्वाभाविक रूप में कर सके हैं। इस ग्रंथ में आद्यंत पथिक का महत्त्व बना हुआ है। संवाद–योजना का प्रारम्भ ही पथिक द्वारा नायिका के साक्षात्कार से होता है। यह साक्षात्कार पूरे विरह–वर्णन की भूमिका बन गया है। नायिका को देखने के साथ ही उसके सौन्दर्य पर मुग्ध पथिक आठ गाथाओं के माध्यम से उसका शिख–नख वर्णन प्रस्तुत कर देता है। इन गाथाओं को सुनने के बाद वह लज्जावती मुग्धा पैर के अँगूठे से धरती कुरेदती हुई उससे पूछती है कि तुम कहाँ जा रहे हो और कहाँ से आ रहे हो –

गाहां तं निसुणेविणु रायमरालगइ,
चलणंगुट्ठि धरत्ति सलज्जिर उल्लिहइ।
तउ पंथिउ कणयंगि तत्थ बोलावियउ,
कहि जाइसि हिव पहिय कहँव तुइ आइयउ।।[29]

नायिका ने अपनी उत्कंठा के अनुसार ही प्रश्न भी किया है। पथिक पहले प्रश्न का उत्तर बाद में देता है और दूसरे प्रश्न का उत्तर पहले। वह दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए अपने नगर का वैभव–वर्णन करने लगता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। यह मानव–मनोविज्ञान है कि एक सौन्दर्य के दर्शन के बाद उसके स्मृतिपटल पर पूर्वानुभवित समस्त सौन्दर्य भाव एक साथ अंकित हो जाते हैं। पथिक के साथ भी ऐसा ही हुआ, तभी तो विरहिणी के समक्ष साम्बपुर का इतना लम्बा–चौड़ा ब्योरा प्रस्तुत कर देता है। इस छंद में कुलशीला लज्जावती नायिका का भी पूरा मनोविज्ञान स्पष्ट है। पथिक से साक्षात्कार होने के तदनन्तर ही वह अपना दुखड़ा नहीं रोने लगती बल्कि उसके विषय में पूरी जानकारी लेना चाहती है। तुलसीदास भी चराचर जगत में व्याप्त राम–कथा कहने के लिए उपयुक्त पाठ ढूँढते हैं –

मति अनुरूप कथा मैं भाषी। जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी।।

x x x

राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सत संगति अति प्यारी।।[30]

विरहिणी को तो अपने हृदय की संवेदना व्यक्त करनी है, ऐसी स्थिति में वह निश्चित रूप से सही पात्र के विषय में पूरी जानकारी लेना चाहेगी। नागमती भी पक्षी से अपना संदेश कहते हुए यही भाव व्यक्त करती है –

तासौं दुख कहिए, हो बीरा। जेहि सुनि कै लागै पर पीरा।।[31]

विरहिणी भी इसी उद्देश्य से यह सवाल करती है कि "कहाँ जाओगे और कहाँ से आ रहे हो।" जाने का सवाल पहले किया गया है क्योंकि उसका पति भी उसी पथ से गया है जिधर पथिक जा रहा है। जवाब दूसरे प्रश्न का पहले मिलता है क्योंकि कवि नायिका को आश्वस्त करना चाहता है कि पथिक सहृदय है। वह उसकी वेदना को समझ सकता है। उसकी सहृदयता को पूरी तरह समझने के लिए ही नायिका ऐसी आवेगात्मक स्थिति में भी नगर–वर्णन को सुनती है। लगभग उबा देने वाला उद्यानों का वर्णन भी वह धैर्यपूर्वक सुनती है। जब दूसरे प्रश्न का उत्तर मिलता है कि पथिक खम्भात जा रहा है तो विरहिणी स्वयं को रोक नहीं पाती। पथिक द्वारा तन्मयता–पूर्वक किये गये वर्णनों से उसे यह विश्वास भी हो गया है कि उसके विरह–संदेश को पति तक पहुँचाने वाला सही पात्र उसे मिल गया है। इसी विश्वास के कारण ही संदेश–कथन के समय बीच–बीच में वह पथिक से कहती है –

कहवि गाह इस पंथिय मण्णाएवि पिउ।
दोहा पंच कहिज्जसु घुरूविणएण सउ।।[32]

वह पथिक से कभी एक गाथा कहकर तो कभी दो गाथा कहकर प्रिय को विनयपूर्वक अपना संदेश सुनाने का अनुग्रह करती है। पथिक और नायिका के संवाद की तारतम्यता निरंतर प्रगाढ़ होती जाती है। जैसे–जैसे नायिका का संदेश–कथन मार्मिक होता जा रहा है वैसे–वैसे पथिक को भी अपने गंतव्य की दुर्गमता और भयावहता की चिंता सता रही है। जितनी बार वह जाने की उतावली दिखाता है, हर बार नायिका की बढ़ी हुई दीनता और संदेश में हृदय की विकलता को महसूस कर पुनः कुछ समय के लिए ठहर जाता है। हर बार पथिक के शीघ्रगमन की इच्छा को देखकर नायिका भी संदेश कथन में पूरा हृदय उड़ेल देना चाहती है।

संदेश–कथन का प्रारम्भ पथिक द्वारा किए गए प्रश्न के उत्तर से होता है –

पहिउ भणइ कणयंगि कहह किं रून्नयणि,
किं झिज्झहि दिण रयणि उविण्णियमियनयणि।।[33]

कनकांगी नायिका के दुःख को देखकर पथिक का हृदय करुणा से भर गया। उसने कहा रोने से क्या लाभ है ? तुम दिन–रात दुर्बल क्यों होती जा रही हो ? यहीं से संदेश कथन प्रारम्भ होता है। आरम्भ में संदेश कथन में लज्जा का भाव अधिक है। तत्पश्चात् शारीरिक और मानसिक संताप का वर्णन बढ़ता जाता है। जहाँ पर वर्णन थोड़ा मद्धिम पड़ता है वहाँ पुनः पथिक का कथन नायिका को संदेश देने के लिए तत्पर कर देता है। फिर एक नये सिरे से विरह–वर्णन शुरू हो जाता है। पथिक का हर कथन विरहिणी के दुःख की एक–एक परत को हटाकर उसके अंतरतम् तक पहुँचने की चेष्टा जैसा है। एक ओर तो जाने के लिए उतावला होकर पथिक विरहिणी के संताप को और बढ़ाने वाला है वहीं दूसरी ओर उसे धीरज धरने को कहते हुए विरह के ताप पर शीतल लेप के समान क्षणिक आश्वस्ति प्रदान करने वाला भी है। पथिक का संवाद ही विरह–वर्णन के उतार–चढ़ाव के केन्द्र में है। पथिक थोड़ी देर में चला जायेगा और मैं अपना संदेश पूरा कह भी पाऊँगी या नहीं; इस आशंका से विरहिणी कितनी कातर दृष्टि से पथिक को देखती है –

ओसासंभमरूद्धसास ओरून्नमुह,
वम्महसर पडिभिन्न सरवि पिय संगसुह।
दर तिरच्छि तरलाच्छि पहिउ जं जोइयउ,
णं गुणसद्द उतट्ठि कुरंगि पलोइयउ।।[34]

दुखिया की हिरणी के समान कातर दृष्टि किसी भी मनुष्य को कुछ देर और ठहर जाने के लिए पर्याप्त है। पथिक तो फिर भी सहृदय है। जाने के लिए कहकर पुनः पथिक का बार–बार रुक जाना सिर्फ नाटकीय चमत्कार नहीं लगता बल्कि सद्–जनों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिचायक है। पथिक के कथन में बार–बार भले ही उसके शीघ्रगमन की इच्छा ही क्यों न व्यक्त हुई हो लेकिन वह एकरसता से परे है। एक ही भाव को कवि ने भिन्न–भिन्न स्थानों पर इस प्रकार प्रयोग किया है कि वह पाठक को खटकता नहीं है। आरम्भ में जाने की इच्छा को प्रकट करते हुए पथिक कहता है –

तुरिय णियगमणु इच्छंतु तत्तक्खणे,
दोहया सुणवि साहेइ सुवियक्खणे।
कहसु अह अहिउ जं किंपि जंपिव्वअउ,
मग्गु अइ दुग्गु मइ मुंधि जाइव्वअउ।।[35]

पथिक अंत में पुनः अपने मार्ग की दुर्गमता को बताते हुए कहता है –

हउं पुणि मग्गि पयट्टउँ भंजि म मह गमणु।
पुव्वादिसिहि तमु पसरिउ रवि अत्थमणि गउ,
णिसि कटिठहि गम्मियइ मग्गु दुग्गमु सभउ।।[36]

उपर्युक्त दोनों कथनों में पुनरूक्ति के बावजूद उबाऊपन नहीं है। पूरी रचना में इस भाव वाले कथन बार–बार आये हैं। इन कथनों का संयोजन देश–काल के साथ कवि ने इस प्रकार किया है कि ये समयानुकूल हो गये हैं। कथन के साथ सूक्ष्मता से काल का ऐसा संयोजन ही पथिक को अंततः पथिक बनाये रखता है। उसे सामान्य श्रोता नहीं बनने देता। वह संदेशवाहक बनने के लिए रुक तो गया है लेकिन उसके लिए उसका कार्य ही अभीष्ट है। पथिक के चरित्र को मजबूती से बनाये रखने में ये पुनरुक्ति कथन सहायक हैं। नायिका की मनःस्थिति के प्रतिकूल होने के बाद भी ये कथन विरह–वर्णन में बाधक नहीं हैं, बल्कि वर्णन को चरम तक पहुँचाने में सोपान के समान प्रस्तुत हुए हैं। पथिक का चरित्र यदि सामान्य सहृदय श्रोता में बदल जाता तो विरह–वर्णन में हृदय की वह मार्मिकता और शारीरिक चेष्टाओं की वह कातरता कविता में न आ पाती जो आयी है।

रचना में भले ही संवादों का दुहराव है लेकिन हर बार यह समय और परिस्थिति को ध्यान में रखकर किया गया है। रचना में प्रस्तुत संवाद–कौशल उसके भाव को, उसकी आत्मा विरह को उजागर करने में पूरी तरह सफल है।

संदेशरासक में विरह–वर्णन प्राचीन काल से चली आ रही परिपाटी के अनुसार ही हुआ है लेकिन रचना के शिल्प में कहीं–कहीं रचनाकार ने पूरी तरह उसका विसर्जन कर दिया है। ऐसे में उसमें न ही पूर्व–प्रचलित काव्य–रूढ़ियों का पालन किया गया है और न ही उनके पूर्व निश्चित क्रम का। कुछेक स्थलों पर तो कवि ने नए उपमानों की योजना कर डाली है –

पाणी तणइ विओइ कादमि ही फाटइ हियउ।
जइ इम माणसु होइ नेहु त साचउ जाणियइ।।[37]

साहित्य में मछली और जल के वियोग का आदर्श माना गया है। जल से अलग होते ही मछली प्राण त्याग देती है। यहाँ मछली के स्थान पर कीचड़ है। मछली तो विरह में मर जाती है लेकिन कीचड़ मरता नहीं हैं। उसका हृदय तब तक फटा रहता है जब तक पुनः जल से उसका संयोग न हो जाये। नायिका एक ओर तो प्रिय–वियोग में जीवित होने पर लज्जित है वहीं दूसरी ओर विरह–जन्य दुःख में मृत्यु के स्थान पर प्रियतम के

प्रति एकनिष्ठ रहने को ही सबसे ऊपर समझती है। वह मछली के प्रेम से अधिक महत्त्व कीचड़ के प्रेम को देती है। इस भाव की व्याख्या कवि घनानंद के यहाँ विस्तार से मिलती है जो उनकी सम्पूर्ण रचना–प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग है –

मरिबो बिसराम गनै वह तो यह बापुरो मीत तज्यौ तरसै।
वह रूप–छटा न संहारि सकै यह तेज तवै चितवै बरसै।
घनआनंद कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै।
बिछुरें–मिलें मीन–पतंग–दसा कहा मो जिय की गति को परसै।[38]

घनानंद के यहाँ 'कीचड़' का उपमान नहीं है लेकिन प्रेम का भाव वही है जो संदेशरासक की नायिका के यहाँ है। संदेशरासक में भी इस छंद को क्षेपक कहा गया है, लेकिन इससे इस छंद का महत्त्व घटता नहीं है। विवेचित छंद चाहे अब्दुलरहमान ने लिखा हो या बाद के किसी व्यक्ति ने यह पूरी रचना और उस क्षण–विशेष में विरहिणी की दशा को स्पष्ट करने में पूरी तरह सक्षम है।

प्रिय–वियोग में काल की दीर्घता को अपने जीवन की दीर्घता से जोड़ती हुई विरहिणी कहती है –

फलु विरहग्गि पवासि तुअ,
पाइअ अम्हिहि जाइ पियह भणु।
चिरू जीवंतउ लद्ध वरू,
हुअउ संवच्छर तुल्लउ इक्कु दिणु।।[39]

साहित्य में कई स्थलों पर वियोग–काल के दीर्घ होने का वर्णन है, लेकिन कहीं भी उसे विरही के चिरंजीवी होने से नहीं जोड़ा गया है। कहीं भी ऐसा नहीं कहा गया है कि मुझे विरहाग्नि के फलस्वरूप चिरंजीवी होने का वर मिला है, इसीलिए एक दिन एक संवत्सर के समान प्रतीत होता है। इस कथन के भूमिका स्वरूप नायिका पहले ही उत्तरायण और दक्षिणायण के समानांतर तीसरे विरहायण की कल्पना कर चुकी है। विरहायण वह है जिसमें दिन और रात दोनों बढ़ते हैं। जब दिन–रात दोनों बढ़े ऐसी स्थिति में नायिका यदि काल की सापेक्षता में स्वयं को चिरंजीवी समझती है तो यह स्वाभाविक ही है।

विरह–वर्णन में कुछ ऐसे वाक्यों का भी प्रयोग किया गया है जो आदिकालीन अन्य रचनाकारों के यहाँ भी हैं। एक स्थान पर नायिका कहती है –

जसु पवसंत ण पवसिया मुइअ वियोइ ण जासु।
लज्जिज्जउ संदेसडउ दिंती पहिय पियासु।।[40]

ठीक इसी भाव का दोहा हेमचंद्र के यहाँ भी है –

जउ पवसंतें सहुँ न गय न मुअ विओएँ तस्सु।
लज्जिज्जइ संदेसडा दिन्तेहिँ सुहय–जणस्सु।।[41]

संदेशरासक के विरह–वर्णन में ऐसे कथन भी हैं जो अगले 400–500 वर्षों तक ठीक उसी रूप में प्रचलित रहे। विरहिणी नायिका अपने संयोग के दिनों का स्मरण करती हुई कहती है –

तइया निवडंत णिवेसियाइँ संगमइ जत्थ णहु हारो।
इन्हिं सायर–सरिया–गिरि–तरू दुग्गाइँ अंतरिया।।[42]

कभी ऐसा समय था जब आलिंगन में हार का भी अंतर नहीं पड़ने पाता था और अब सागर, सरिता, पर्वत, वृक्ष और दुर्गों का अंतर हो गया है। यही भाव घनानंद के यहाँ भी है –

घनआनँद मीत सुजान बिना सब ही सुख–साज–समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे अब आनि कै बीच पहार परे।।[43]

संदेशरासक के विरह–वर्णन में निरंतर संवाद की योजना करके कवि ने एक नया शिल्प गढ़ा है लेकिन उसमें जिन उपमानों या अप्रस्तुतों की योजना की गयी है वह लगभग परम्परा–गृहीत हैं। वियोग और संयोग के ये उपमान संस्कृत–साहित्य से उसी प्रकार हिन्दी में चले आये हैं जैसे काव्य के आधार (भाव)। संदेशरासक के बाद भी आगे कई सौ वर्षों तक ये वैसे ही चलते रहे। अब्दुलरहमान की विशिष्टता यही है कि उन्होंने शास्त्र परम्परा प्रचलित उपमानों का प्रयोग आम जन की भाषा में ढालकर किया। तत्कालीन परिस्थिति में जितनी नवीनता और प्रयोगात्मकता रचना के शीर्षक में है उतनी ही उसके आंतरिक गढ़न में भी है। विरह–भाव में संवाद का प्रयोग शिल्प के स्तर पर इसे अपने समय और बाद की अन्य रचनाओं से अलग एक विशिष्ट कोटि प्रदान करता है।

2.3 बीसलदेव रास में विरह वर्णन : अंतर्वस्तु

संदेशरासक के ही समान बीसलदेव रास के विरह वर्णन का रूप भी प्रवास का है। संदेशरासक में जहाँ प्रवास की सूचना मात्र है वहीं बीसलदेवरास में पूरी घटना का वर्णन है। बीसलदेव रास में संदेशरासक की अपेक्षा घटना की प्रधानता है। इसी कारण जहाँ संदेशरासक की पूरी कथा में तीन मुख्य चरित्र हैं वहीं बीसलदेव रास में अन्य चरित्र भी आए हैं। विरह–वर्णन और घटनाओं के क्रम में इन चरित्रों का अपना अलग महत्व है।

रानी राजमती की लाख कोशिशों के बावजूद राजा उड़ीसा चला जाता है। रानी राजा को राज की नीति समझा कर विदा करती है। राजा के साथ कुछ दूर तक पंडित भी विदा देने जाता है। जब राजा बनास नदी के पार उतर जाता है तब पंडित रानी को खबर देने वापस लौटता है। यहीं से विरह–वर्णन प्रारंभ होता है। पंडित देखता है –

पंडियउ बोलावि नइ आयउ गोरीय पासि।
नाटिका जीव न हीयडलइ सांस।
पलिंग हुं ती धण मुइं पडी।
चीर न संभालए न पीवए जी नीर
जाणे हियडइ हरिणी हणी।
उणिरउ गात्र उघाडा नइ विकल सरीर।।[44]

रानी मृत हिरणी के समान पलंग से नीचे पृथ्वी पर पड़ी हुई है। न तो उसकी नाड़ी में जीवन के लक्षण हैं और न ही उसके हृदय में साँसें। वह विकल होकर बेसुध पड़ी है। उसे अपने वस्त्रों का भी कोई ख्याल नहीं है। उसका शरीर ऐसे ही खुला पड़ा है। वह जल भी ग्रहण नहीं कर रही है। यह जड़ता की स्थिति है। अभी तक तो राजा रानी के समक्ष था। भले ही नाराज ही, लेकिन था तो। कभी रानी राजा की चिरौरी कर रही थी तो कभी उलाहना दे रही थी। अब उसके जाने के बाद रानी ने जब उसकी अनुपस्थिति से साक्षात्कार किया होगा तो उसमें जड़ हो जाना स्वाभाविक है। रत्नसेन के जाने के बाद नागमती को भी ऐसा ही विरह–बाण लगा कि वह हिल–डुल भी नहीं सकी –

विरह वाण तस लाग न डोली।[45]

इस स्थिति में सात सहेलियाँ रानी को समझाती हैं। रानी न तो काढ़ा पी रही है और न औषधि ही ले रही है। पहले जो सहेलियाँ रानी को निगुणी ठहराते हुए कहती थी –

सात सहेलीय रही समझाइ।
निगुणी हे गुण हूवइ तउ नाह किंउ जाइ।
फूल पगर जिउं गाहिजइ।[46]

स्त्री में यदि गुण ही हो तो स्वामी चाकरी करने क्यों जाए ? गुणी स्त्री तो अपने पति को ऐसे रखती है जैसे पगड़ी में फूल। वही सातो सहेलियाँ रानी की इस दशा को देखकर यथार्थ को महसूस कर रही हैं। अभी तक जिस पति को फूल की तरह पगड़ी में संवारकर रखने की बात हो रही थी अब उसकी कठोरता समझ में आ रही है। पुरुष की कठोरता ने उनका इतिहास–बोध जागृत कर दिया है –

भोली तो थी भलीय दवदंती हे नारि।
सो नल राजा मेल्हि गयउ।
पुरुष समउ निगुणी नहीय संसारि।।[47]

रानी को दमयंती का उदाहरण देते हुए सखियाँ उसे धीरज धरने को कहती हैं साथ ही नल समेत सभी पुरुषों को निर्गुणी भी ठहराती हैं। आज भी गाँवों में यदि किसी स्त्री के साथ ऐसा कुछ होता है तो तुरंत सीता और सती का उदाहरण सामने रखकर उसे सांत्वना देने का कार्य–व्यापार शुरू हो जाता है। राजा चाकरी पर जाने के लिए तत्पर था और रानी के पास उसे रोकने की सामर्थ्य शेष नहीं रह गई थी तो वह भी साथ चलने के लिए तत्पर हो गई। पति को जाने से रोकने के लिए स्त्री का यह अंतिम अस्त्र होता है। रानी भी उन्माद की अंतिम सीमा पर पहुँचकर कहती है –

चालियउ उलगाणउ धण जाण न देइ।
मो नइ मरि कइ सरिसीय लेइ।
अंचल ग्रहि धण इम कहइ।
दुइ दुष सालइ हो सामीय सांझ।
जीवन मुरडिय मारिस्यइ।
दोस किसउ जइ साधण बांझ।।[48]

एक सामान्य स्त्री की भांति रानी जिद कर रही है कि या तो मुझे मार डालो या साथ ले चलो। विवाह पश्चात् उसके जीवन का एकमात्र अवलंब उसका पति ही है क्योंकि अभी उसके कोई संतान भी नहीं है कि पति के जाने के बाद उसका मुख देखकर जी लेगी। इस परिस्थिति में उसे अपने संभावित मरण का पूरा भान है। उसे ही लक्ष्य करके कह रही है कि संध्या समय में दो दुःख उसे अधिक कष्ट देते हैं, एक तो यौवन

और दूसरा संतानहीन होना। यदि स्त्री संतानहीन है तो इसमें उसका क्या दोष। अभी तो रानी में यह दोष भी नहीं है, लेकिन भविष्य की यथार्थता की कल्पना करके ही उसने ऐसा कहा होगा। राजा के प्रवास के बाद उद्वेगावस्था में रानी अपने राजभवन में दहाड़ मारकर रो रही है। दिन–रात वह मोर की भांति कूक रही है। रानी को संभालने के लिए पड़ोसिनें आकर बैठी हैं और कह रही हैं –

जोबइ निसंतान जेउं वइ गया।
सषीय इणि कति नाह कोइ ऊलग जाइ।।[49]

राजा वैसे ही रानी को छोड़ गया है जैसे कोई पति अपनी निःसंतान स्त्री को छोड़ जाता है। भला इस प्रकार भी कोई चाकरी को जाता है। रानी को इस कथन का पूर्वानुमान था। पुरुष की कितनी वंचनीयता है कि मात्र संतानहीन होने से स्त्री को छोड़ देता है। इस उपालम्भ का ख्याल करके ही रानी ने कहा था कि संतानहीन होने में स्त्री का क्या दोष। संतानहीन स्त्री का पति यदि प्रवास पर जाता है तब तो उसका सब कुछ नष्ट हो जाता है। उसके जीने का कोई अवलम्ब ही नहीं रह जाता। पुरुष की ऐसी वंचनीयता का ख्याल कर राजमती कहती है –

मइ छडी हो स्वामी थारी आस।
जोगिणि होइ सेवउ बनबास।
कइ तप तपुं बाणारसी।
कइ तउ परबत चडउं केदार
कइ रे हिमालइ माहि गिलउं।
कइ तउ झंफद्यउं गग दुवारि।।[50]

ऐसी कौन स्त्री होगी जो पति के जीते जी उसकी आशा छोड़ देगी। ना ही ऐसी कोई रानी होगी जो योगिनी होकर बनवास करना चाहेगी। यह उसकी अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान ही है जो उसे वाराणसी और हिमालय जाकर तप करने को प्रेरित कर रहा है। धन–धान्य से परिपूर्ण राजभवन को छोड़कर किसे गंग–द्वार में कूद कर आत्महत्या करने का ख्याल आएगा।

राजमती के कष्ट से भरे इन कथनों में कहीं पर भी ग्लानि नाम की कोई वस्तु नहीं है। मध्यकालीन साहित्य में ऐसी कोई स्त्री नहीं है जो पति के समक्ष आत्मग्लानि से मुक्त होकर अपने दुःख को इस प्रकार प्रकट करे। आत्मग्लानि रहित नारी हृदय की ऐसी

वेदना वाल्मीकि और स्वयंभू की सीता में तो है लेकिन पूरा का पूरा मध्यकालीन साहित्य स्त्री की ऐसी तेजोमय वेदना से रहित है।

भ्रमरगीत प्रसंग में सूर की गोपियाँ थोड़ा–बहुत इस तेज के निकट पहुँच पायी हैं; वह भी कृष्ण की अनुपस्थिति में। आधुनिक काल में प्रेमचंद जैसे प्रगतिशील लेखकों के यहाँ पत्नी का यह तेवर देखने को मिलता है। स्त्री का ऐसा चरित्र–चित्रण आधुनिक काल की प्रगतिशीलता का एक मानक माना जाता है। ऐसे में लगभग 600 वर्ष पूर्व की इस स्त्री को क्या कहा जाएगा ? नामवर सिंह लिखते हैं – "मध्ययुग के समूचे हिन्दी साहित्य में जबान की इतनी तेज और मन की इतनी खरी नायिका नहीं देखी। परंतु तेज है तो क्या हुआ, है तो आखिर नारी ही।"[51]

नारी तो है लेकिन उसके कारण कहीं भी राजमती कमजोर नहीं पड़ती। वियोग के बाद तो शक्तिशाली पुरूरवा और राम ने भी रूदन किया था। जब देवत्व से परिपूर्ण चरित्र, विरह में व्याकुल हो जाते हैं; राजमती तो फिर भी मनुष्य ही है। इन पराक्रमी और देवत्वपूर्ण चरित्रों के रूदन का कालिदास ने ऐसा हृदय विदारक वर्णन किया है कि कवि नागार्जुन उनसे पूछ बैठते हैं –

इंदुमती के मृत्युशोक से/अज रोया या तुम रोये थे ?
कालिदास, सच–सच बतलाना !

x x x x

कामदेव जब भस्म हो गया/रति का क्रंदन सुन आँसू से
तुमने ही तो दृग धोये थे ?/कालिदास, सच–सच बतलाना !
रति रोई या तुम रोये थे ?

x x x x

परपीड़ा से पूर–पूर हो/थक–थक औ' चूर–चूर हो
अमल–धवल गिरि के शिखरों पर/प्रियवर, तुम कब तक सोए थे ?
रोया यक्ष कि तुम रोये थे ?
कालिदास, सच–सच बतलाना।[52]

राजमती भी रोती है बिलखती है। हर संभव कोशिश करती है राजा को रोकने की लेकिन इस पूरे घटनाक्रम में कहीं भी उसका आत्मसम्मान कमजोर नहीं पड़ा है। उसका यह दृढ़ आत्मसम्मान ही राजा के समक्ष उससे कहलवाता है –

छंडी हो स्वामी म्हे थारी हो आस।
मइला हो थारउ किसउ बेसास।

बाँदी करि धणि नवि गिणी।
म्हाकी सगा सुणीजा माहे लोपी छै माम।
जीवन डी मूयां बडइ।
बालुं हो धणी तुम्हारडा दाम।।[53]

पति को मन का मलिन कहना मामूली बात नहीं है। तब तो और जब पति सिर्फ पति ही नहीं राजा भी हो। राजमती ही वास्तविक भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व कर रही है। वास्तविक भारतीय स्त्री का तेवर यही है। वह अपने आप को परिवार या समाज का एक सम्मानित अंग समझती है। उसके इस सम्मान का आधार उसका पति ही है, यह भी वह भली–भांति जानती है। उसे पता है कि यदि उसका पति ही सम्मान नहीं करेगा तो परिवार और समाज में उसके लिए कोई स्थान नहीं बचता। राजमती इसी को लक्ष्य करके कह रही है कि तुमने तो अपनी स्त्री को बाँदी के समान भी नहीं गिना। सगे–स्नेहियों में तुमने मेरा सम्मान समाप्त कर दिया। ऐसे जीने से वह मर जाना ज्यादा अच्छा समझ रही है। आज भी भारत की आधी आबादी में से लगभग 90% स्त्रियाँ ऐसी ही हैं। वह सब कुछ तो सह सकती हैं लेकिन पति द्वारा आत्मसम्मान पर ठेस लगाने पर ऐसा ही बोलती हैं। उनका दुःख इसी रूप में अभिव्यक्त होता है, क्योंकि वह न तो अपने आप को देवी के रूप में देखती है और न ही पति के पैरों की जूती के रूप में। जीवन के विस्तृत फलक पर वह पति के साथ अधिकारपूर्वक जीवन–यापन करना चाहती है। कई स्तरों पर बंधन–ग्रस्त मध्यवर्गीय भारतीय स्त्री का चरित्र भी ऐसा ही है।

बीसलदेव उड़ीसा की ओर बढ़ता जा रहा है, इधर राजमती को अपने विरह में समय का ख्याल आता है। इसी क्रम में बारहमासा शुरू होता है। कार्तिक से शुरू होकर यह बारहमासा आश्विन तक चलता है। इसमें प्रकृति परिवर्तन के साथ–साथ राजमती के मानसिक और शारीरिक परिवर्तनों का वर्णन किया गया है। बारह महीने बीतने के बाद विरहाकुल राजमती ऐसी लग रही है जैसे सोने की कुप्पी पर मोम की तह लग गयी हो। सोने जैसी उसकी शारीरिक आभा विरह के कारण दब गयी है। उसकी मनः स्थिति ऐसी हो गयी है कि वह कहीं स्थिर नहीं रह पा रही है। उन्माद की इस अवस्था में कभी वह चौपाल में दिखती है तो कभी राजभवन में –

हेम की कूंपली मइण की मूंद।
साधण ऊभी रे मत्त गइंद।
चउबारा की चउषंडी।[54]

विरहाकुल राजमती को अब समय और अन्य बाह्य वातावरण का भी ज्ञान नहीं रह गया है। उसे न तो सूर्य के ताप का ही भान होता है और न तेज चलती हवा का ही। दिन और रात का भी उसे कोई ख्याल नहीं रह गया है। रूपवती राजमती विरह की इस दशा में ऐसी लग रही है जैसे चन्द्रमा के ऊपर बादल छाया हुआ है। एक ओर तो अंधेरी रात में प्रिय का वियोग तो दूसरी ओर उसका पूर्ण यौवन –

तठइ बाइ न बाजे ना तपइ सूर।
बादल छायउ चंद जेउं।
रात्र अंधारीय जोवन पूर।।[55]

राजमती की ऐसी विरह–व्याकुल दशा को देखकर उसकी सास उसे घर में रहने के लिए कहती है। राजमती के रूप और पूर्ण यौवन को देखकर ऐसी स्थिति में सास का चिंतित होना स्वाभाविक है। उसे चिंता है कि कहीं बहू के साथ कोई अपशकुन न हो जाये। साथ ही कवि द्वारा यहाँ सास के चरित्र की अवतारणा राजमती को देश और काल का ध्यान दिलाने के लिए किया गया है। इतनी रात में न तो सखियाँ और न पड़ोसिनें ही आयेंगी। इसीलिए यहाँ कवि ने सास को उपस्थित किया है। ऐसी रूपवान बहू की इस विक्षिप्त दशा में उसे उसकी वास्तविक स्थिति से अवगत कराती हुई सास कहती है –

सासू कहइ बहू घर माहे आबि।
चंदरइ भोलइ गिलेसी राह।
चंद पूलाणउ बनि गयउ।
दूधु इम उबरइ मजारि कइ फेरि।
पवनहि दीवलउ नवि बलइ।
नाह उडीसइ धण अजमेरि।।[55]

सास के इस कथन में कितनी प्रतीकात्मकता है उसे भय है कि चंद्रमा के समान मुख वाली बहू को कहीं राहु, चंद्रमा समझ कर ग्रस न ले। दूध कितने दिनों तक बिल्ली से बच सकता है। वह कहती है कि दीपक पवन के झोंके से नहीं जलता। तुम्हारे इस तरह भटकने से तुम्हारा पति वापस नहीं आ जाएगा, क्योंकि वह उड़ीसा में है और तुम अजमेर में। सास राजमती को यह एहसास करवाना चाहती है कि अपनी वास्तविकता को समझो। अंधेरी रात में इस प्रकार व्याकुल होकर इधर–उधर भटकना उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे हवा के झोंके से दीपक जलाने की कोशिश करना। यह कर्म पूरी तरह निरर्थक

है इसका कुछ भी फलाफल नहीं मिलने वाला है क्योंकि तुम्हारे पति को तुम्हारी इस व्याकुलता का ज़रा सा भी भान नहीं है। सास द्वारा देश–काल की वास्तविकता और उसमें उसकी स्थिति का ध्यान दिलाने के बाद राजमती को अपना स्त्री जीवन ही सबसे बड़ा अभिशाप लगने लगता है। अपने इस अभिशाप का उपालंभ वह महेश (शिव) को देते हुए कहती है –

अस्त्रीय जनम काइं दीधउ महेस।
अवर जनम थारइ घणा रे नरेस।
रानि न सिरजीय रोझडी।
घणह न सिरजीय धउलीय गाइ।
बनषंड काली कोइली।
हउं बइसती अंबा नइ चंपा की डाल।
भषती द्राष बिजोरडी।
इणि दुष झूरइ अबला जी बाल।।[57]

तुम्हारे पास देने के लिए और भी बहुत जनम थे, फिर तुमने मुझे स्त्री का ही जन्म क्यों दिया ? तुमने मुझे जंगल की नीलगाय या धौली गाय क्यों नहीं बना दिया ? कम से कम वनखंड की काली कोकिल ही बना दिया होता। जिससे मैं आम और चंपा की डाल पर तो बैठती, अंगूर और बीजोरी तो खाती। दुख में यह अबला बाला सूखती जा रही है। पति–वियोग तो है ही लेकिन अब राजमती को सबसे बड़ा संताप स्त्री होने का है। वह जंगल की नीलगाय या काली कोकिल बनना चाहती है। नीलगाय और कोयल बनकर कम से कम स्वतंत्र रूप से जंगल में भटक तो सकती है। स्त्री होकर तो वह इस प्रकार अपनी विकलावस्था में घर से बाहर भी नहीं निकल सकती। मुक्ति की इस आकांक्षा में राजमती मानवेतर जगत से जुड़ाव महसूस कर रही है। व्यक्तित्व की स्वतंत्रता की इस आकांक्षा में वह उन्मुक्त विचरण करने वाली नीलगाय या कोयल बन जाना चाहती है। इस मनोदशा में वह तत्कालीन समाज के कथित सभ्यता के आवरण को अपनी कल्पना में अतिक्रमित कर रही है। कथित सभ्य समाज को छोड़कर जंगल की नीलगाय और वन की कोकिल बनने की उसकी आकांक्षा ही व्यक्तित्व की स्वतंत्रता की पहली सीढ़ी है। समाज और व्यक्ति के इसी द्वन्द्व में स्वतंत्रता के इस मूल्य को मीरा ने इस प्रकार चुकाया था –

भया छांड्या, बन्धा छाड्यां छाड्यां संगा सूयां।
साधां ढिग बैठ बैठ, लोक लाज खूयां।

भगत देख्यां राजी ह्ययां जगत देख्यां रूयां।
असुवां जल सींच सींच प्रेम बेल बूयां।[58]

राजमती आदिकालीन नायिकाओं से इसीलिए भिन्न हो जाती है क्योंकि वह युग की चेतना को अतिक्रमित करती हुई आधुनिक व्यक्तित्व बन गई है। 'पउमचरिउ' की सीता का चरित्र भी आरंभ में आत्मसम्मान के इसी तेज से दीप्त है लेकिन अपने स्त्री होने का संताप वह अपने कर्मफल से जोड़ देती है –

एमहि तिह करोमि पुणु रहुवइ
जिह ण होमि पउवारे तिय मइ।[59]

राजमती के मन में कहीं भी कर्मफल के संदर्भ में अपने स्त्री–जीवन को लेकर ऐसी आत्मग्लानि नहीं है वह अपने स्त्री–जीवन पर बिलख रही है। लेकिन यह वेदना वास्तव में स्त्री होने को लेकर नहीं है। यह वेदना स्त्री के ऊपर थोपे गये सभ्यता के इस आवरण को लेकर है। इसीलिए वह आगे कहती है –

आंजणी काइं नि सिरजीय करतार।
षेत्र कमावती स्यउं भरतार।
पहिरिण आछी लोवडी।
तुंग तुरीय जिम भीडती गात्र।
साईय लेती सामुही।
हंसि हंसि बूझती प्री तणी बात।।[60]

राजमती में 'पउमचरिउ' की सीता की तरह आत्मसम्मान का तेज कहीं भी मद्धिम नहीं पड़ा है। स्वयंभू की सीता की तरह वह यह नहीं कहती कि अब स्त्री–योनि में जन्म ही न हो और उसके लिए अपने कर्मों को दोष नहीं देती। वह कहती है कि हे ईश्वर। तुमने मुझे जाटनी क्यों नहीं बनाया ? तब मैं अपने पति के साथ खेत में काम करती, ऊनी वस्त्र पहनती और तुंग तुरंग की भाँति अपना गात अपने पति के गात से भिड़ाती। पति को सामने से लेती और हँस–हँस कर प्रियतम से उनकी बातें पूछती। उन्मुक्त वातावरण की कितनी मधुर कल्पना है यह। राजमती की चाह मुक्त वातावरण में अपने प्रियतम के साथ होने की है, इसीलिए वह अपने स्त्री व्यक्तित्व की स्वतंत्रता चाहती है। प्रेम किसी प्रकार के बंधन में संभव नहीं है उसके लिए एक स्वस्थ और जीवंत वातावरण चाहिए जो व्यक्ति के व्यक्तित्व–विकास में सहायक हो। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं –

"प्रेम या घृणा व्यक्तित्ववान प्राणी ही कर सकता है। जिस व्यवस्था में स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण का कोई अवकाश ही न हो उसमें प्रेम और घृणा कर सकने का अवकाश कहाँ ?"[61]

राजमती का स्त्री–जीवन के प्रति बिसूरना वैसे ही सजीव जीवन की चाह के लिए है जिसमें तुलसी की सीता अपने आप को अयोध्या के राजभवन से अधिक सुखी पा रही है –

राम संग सिय रहति सुखारी। पुर परिजन गृह सुरति बिसारी।।
छिनु छिनु पिय बिधु बदन निहारी। प्रमुदित मनहुँ चकोर कुमारी।।
नाहनेहु नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी।।
सिय मनु राम चरन अनुरागा। अवध सहस सम बिनु प्रिय लागा।।[62]

अन्यथा राजमती रानी होकर जाटनी क्यों बनना चाहती ! जहाँ राजभवन में हर प्रकार की सुख–सुविधा है उसे त्यागकर पति के साथ खेत में काम करने की कल्पना क्यों करती। राजमती के इस कथन के संदर्भ में नामवर सिंह लिखते हैं –

"कितनी बड़ी विवशता ! किसी राजा की रानी होना कितना बड़ा अभिशाप है। मुक्त जीवन की कितनी बड़ी लालसा राजमती के इस कथन में निहित है। मध्ययुग की किसी भी रानी में ऐसी उन्मुक्त आकांक्षा नहीं दिखाई पड़ती।"[63]

अधिक काल बीतने के बाद भी जब बीसलदेव वापस नहीं आता तब राजमती पंडित से संदेश भेजने के लिए पंडित के घर जाती है। यहाँ से संदेश–वर्णन प्रारंभ होता है। राजमती विनती करती हुई पंडित से अपनी विरह–दशा को शारीरिक दुर्बलता के रूप में प्रकट करती हुई कहती है –

गोरठी बइठी छइ पंडिया कइ आइ।
कर जोडी अरू लागुं ज पाइ।
राजमती करइ वीनती।
पंडिया कहिज्यो म्हारइ प्रीय नइ जाइ।
डावां हाथ कउ मूंदडउ।
ढलिक करि आवइ हो जीमणी बांह।।[64]

मेरे प्रिय से कहना कि तुम्हारी पत्नी इतनी दुर्बल हो गयी है कि उसके बाएँ हाथ की मुद्रिका ढलक कर उसकी दाहिनी बाँह में आने लगी है। अत्यंत दुर्बल शारीरिक

दशा को बताने के लिए यह कथन आदिकाल में बहुत प्रचलित रहा है। राजमती भी इसी के सहारे अपना संदेश–कथन प्रारंभ करती है। आगे वह कहती है –

पंडिया जाइ कहे धण का नाह।
तइ मोनइ दीधी थी जीमणी बांह।
चंद सूरिज दुइ साषिया।
पवन पाणी अरू धरती आकासि।
धूप जयायउ थउ बंभणा।
हउ तउ मूवी हो स्वामी तणइ बेसासि।।[65]

मेरे पति से कहना कि जब उसने मेरा पाणिग्रहण किया था, उसने मुझे अपनी दाहिनी बाँह दी थी। चंद्र और सूर्य उस पाणिग्रहण के साक्षी तो थे ही अन्य साक्षी पवन, जल, धरती और आकाश थे। ब्राह्मण ने धूप भी जला रखा था इस प्रकार अग्नि भी उपस्थित थी उन साक्षियों में। मैं तुम्हारे विश्वास में मर गयी। राजमती इस कथन के माध्यम से राजा के कर्त्तव्य–बोध को जागृत करना चाहती है। प्रवास करके राजा ने उसके विश्वास को तोड़ा है। दाहिना बाँह देकर जिस बीसलदेव ने उसे आजीवन साथ निभाने का विश्वास दिलाया था उसी के वियोग से आज स्त्री की ऐसी दशा हो गयी है। जिस विश्वास के कारण राजमती बीसलदेव के साथ आयी उसी विश्वास को तोड़कर वह उसे मरने के लिए छोड़ गया। विरहिणी राजमती के संदेश–कथन में व्यंग्य की तीक्ष्णता पहले की ही भांति है –

बालु हो धणीय तुम्हारडउ जांण।
कठिन पयोहरां तिज्यउ परांण।
बालउ जोवन, षिसि गयउ।
जोवन के सिरि बंधिया नेत।
जिण बांधिया रावण षिस्यउ।
त्रिय कारणि राम बांधियउ सूरा सेत।।[66]

बीसलदेव को संबोधित करते हुए वह कहती है कि तुम्हारा ज्ञान किस प्रकार का है। तुम्हारे ऐसे ज्ञान में मैं आग लगा दूँ। तुम्हारी इसी समझ के कारण मेरे कठिन पयोधरों ने प्राण त्याग दिए हैं और मेरा नवयौवन धीरे–धीरे खिसकता जा रहा है। बीसलदेव की आत्मप्रशंसा पर जब राजमती ने उसका प्रतिवाद किया था उस समय अपनी समझदारी को जताते हुए उसने कहा था कि दावाग्नि का जला वृक्ष नयी पत्तियाँ ले लेता

है लेकिन जिह्वा का जला मनुष्य कभी पल्लवित नहीं होता। अब बीसलदेव की वह समझदारी कहाँ गई। समझदारी पत्नी को सजा देने की ही थी। पत्नी की वेदना और उसकी विषम परिस्थिति को समझने का कोई ज्ञान नहीं है उसे। अपने एक कठोर वचन के लिए राजमती ने हर तरह से माफी माँगी। उसने अपनी तुलना बीसलदेव के पग की पनही से भी कर दी –

हूँ विरासी राजा भइ कीयउ दोष।
पगरी पाणहीस्यउ किसउ रोस।
कीडी ऊपर कटकी किसी।
म्हे हस्या थे करि जाणियउ साच।
ऊभीय मेल्हि किउं चालीयउ।
स्वामी जलह विहूणा किम जीयउ माछ।।[67]

राजमती कहती है मैंने तो हंसी की थी और तुम सच समझ कर मुझे छोड़कर जा रहे हो। राजमती की हँसी बीसलदेव जैसे ज्ञानी को लग गयी और वह उसे मछली की तरह तड़पता छोड़कर चला गया। उसे कहां पता है कि जल के बिना वह मछली जीवित है भी या नहीं। एक ओर तो विरह का दुख दूसरी ओर यह यौवन। वह कहती है यौवन के सिर पर मैंने शील का बंधन बाँध दिया है। सीता ने भी ऐसा ही शील का बंधन बाँधा था जिस कारण रावण मारा गया। वह राम का उदाहरण देती है कि स्त्री के ही लिए उन्होंने समुद्र पर सेतु बाँधा था। उसे राजमती के इस यौवन की जरा भी चिंता नहीं कि उसकी अनुपस्थिति में यौवन विरहिणी के दुख को और बढ़ा देता होगा।

कार्तिक के महीने में राजमती ने बीसलदेव को एक पत्र भी लिखा। उस पत्र में उसने कुछ ऐसी बातें लिखी हैं जिससे उसे बीसलदेव के वापस आ जाने का पूरा भरोसा है। पंडित को वह पत्र देती हुई कहती है कि रास्ते में धूप और छाया का ख्याल मत करना और मेरे पत्र को प्राणों के समान रखना –

तावडउ गिणज्यो न छाहडी।
म्हारी चीरी राषिज्यो जिउं थारउ जीव।।[68]

प्रियतम तक संदेश पहुँचाने की कितनी व्याकुलता है। राजमती पर तो धूप और छाँव का कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। उद्वेग की इसी अवस्था से वह सामने वाले का भी साधारणीकरण करवा देना चाहती है। सखियाँ राजमती को तंग कर रही हैं। उससे पत्र के गुप्त लेख के विषय में पूछ रही हैं। वह सुनाने लगती हैं –

साम्हइ हियडलइ जीमणी कूँषि।
दुइ नष लागा नाह का।
आप समांणी करती आलि।
धण विसहर प्रीयड गारूडी।
आउ सामी थारा डंक संभालि।।[69]

सीधी–सीधे चरित्र के कलंकारोपण से वह स्वामी का साक्षात्कार करवा रही है। हृदय पर और दाहिने उदर पर तुम्हारे नख लगे हुए थे उसे ही देखकर मेरी सखियाँ कलंकारोपण करती हैं। तुम आकर अपने द्वारा दिये गये इस कलंक को सम्भालो। यह स्त्री विषधर है और तुम गारूड़ी हो। आकर अपने द्वारा दिये गये इस डंक को सम्भालो और मुझे मिथ्या कलंक से बचा लो। तुम्हारे वियोग में मैंने सारी सुख–सुविधाओं का त्याग कर दिया है। मेरी सारी इच्छाएं ही समाप्त हो गयी हैं। पलंग का त्याग तो उसने कब का कर दिया है। अब तो नमक और पान–सुपारी भी उसके लिए महाविष हो गये हैं। शारीरिक सुख का ध्यान तो बहुत पहले ही खत्म हो गया था अब स्वाद का भी कोई भान नहीं रह गया। उद्वेग की इस अवस्था में वह निरंतर जपमाली लेकर बीसलदेव के नाम का जप कर रही है –

नाल्ह म्हाका दुष सहिसी कउण।
म्हे तउ पलिंग तज्यउ नइ परहर्यउ लूण।
पान सोपारीय विस बडइ।
ले जपमालीय मइ जपउं नांहि।।[70]

रत्नसेन के वियोग में नागमती की भी यही स्थिति हो जाती है। प्रिय–वियोग में उसका भी जी इतना बावला हो गया है कि पपीहे की तरह "पिउ–पिउ" की रट लगाए रहती है –

पिउ वियोग अस बाउर जीऊ।
पपिहा तस बोले पिउ–पिउ।।[71]

पुनः राजा के ज्ञान पर व्यंग्य करती हुई कहती है कि मैं तुम्हारा ज्ञान समझती हूँ। हम दो शरीर और एक प्राण हुए थे, लेकिन दूसरे शरीर को इतनी दूर क्यों छोड़ गये हो ? मैं कुलीन कन्या हूँ। शील की शृंखला में बँधी हुई हूँ। इसी सदाचार से अपने यौवन को भी चोर की भांति बाँध कर रखा है मैंने। राजमती ने यौवन को चोर की भांति तो बाँध रखा है लेकिन वह समझ रही है कि यौवन और चोर का कोई साम्य नहीं है। समय पर

यौवन तो आयेगा ही इसीलिए कह रही है कि इस यौवन को बाँधे रखने में जितना कष्ट मैं सह रही हूँ उसका अपराध पग–पग पर तुम्हें लग रहा है। इसी कष्ट में कहती है कि इस जन्म में तो तुम चाकर ही हुए लेकिन अपने अपराध के फलस्वरूप अगले जन्म में तुम काले सर्प हो –

जाणियउ हो राजा थाकउ जांण।
दुहुं रे काया मिलउ एक परांण।
सा क्यूं दूरि थी मेल्हियइ।
कुल की रे बेटीय सील जंजीर।
जोवन राषउं मइ चोर जिउं।
पगि पगि तो नइ पहूच रे पाप।
इणि भवि उलगाणउ हूउ।
अवर भवि होयउ कालउ साप।।[72]

पंडित से पुनः संदेश देते हुए कहती है कि मैं जैसा कह रही हूँ तुम वैसा ही मेरे पति से कहना। यौवन रूपी समुद्र पूरे वेग से उमड़ता चला आ रहा है और मैं उसके जल का थाह नहीं पा रही हूँ। एक बार तुम घर आ जाओ तुम्हारी बाट को मैं अपने केशों से बुहारती हूँ –

एक सरां घरि आवज्यो।
थारी बाट बुहारूं सिरह का केसि।
जोवन भरि जल ऊलट्यउ।
थाग न पावुं धरह नरेस।।[73]

क्रोध में वह एक बार तो कह देती है कि मैं जैसा कहूँ वैसा ही कहना लेकिन तुरन्त ही उसे अपनी वेदना के कारण का स्मरण हो आता है। अपनी भूल को सुधारते हुए वह पंडित से कहती है कि तुम मेरी बातों को इस प्रकार कहना जिससे मेरे स्वामी रुष्ट ना हों –

पंडिया तिम कहेज्यो जिम प्रीय न रिसाइ।[77]

विरह के कारण और प्रियतम के रुष्ट होने का ध्यान आते ही अपनी दयनीय शारीरिक दशा की ओर पुनः उसका ध्यान जाता है।

साधण तुझ विण अन्न न षाइ।
कुहाणी फाटउ रे कंचुयउ।

षोपरि फाटउ तु धण केरउ चीर।
जिम दव दाधो लाकडी।
तूं तव उवइगउ रे आविज्यो नाणद का बीर।।[75]

तुम्हारे वियोग में मैं अन्न नहीं खाती। मुझसे अन्न नहीं खाया जाता। मेरी कंचुकी कुहनी पर फट गयी है और मेरी ओढ़नी सिर पर से फट गयी है। जिस प्रकार दावाग्नि से जली हुई लकड़ी हो जाती है मैं उसी प्रकार विरह–ज्वाल में जल गयी हूँ। हे ननद के भाई तुम शीघ्रता पूर्वक आ जाओ।

राजमती पंडित को सब कुछ समझा–बुझाकर, स्वर्ण–मुद्राएँ और शकुन की सामग्री देकर विदा करती है। पंडित सातवें महीने उड़ीसा पहुँचता है। राजा से मिलकर उन्हें चिट्ठी देता है। राजा भी उड़ीसा के राजा से विदा लेकर अजमेर पहुँचता है। राजमती प्रसन्न है लेकिन भीतर की टीस वैसी ही बनी है। राजा को देखकर विरह रूपी अग्नि से जली राजमती ऊपर से पल्लवित तो हो रही है, लेकिन इतने लम्बे समय तक जलते रहने का ताप भीतर अभी भी बचा हुआ है –

मुलकइ हसइ आलिंगन देइ।
पलिंग न बइसइ अनइ पान न लेइ।
ऊभीय देइ उलंभडा।
आँगुली तोडइ छइ मोडइ छइ बांह।
नाह भरोसउ न करूं।
तइं तउ बार बरिस किउं मेल्हीय नाह।।[76]

यह प्रसंग पूर्णरूप से विरह के अंतर्गत नहीं है। संयोग में उपालम्भ का यह कथन विरह की ही भूमि से उपजा है इसीलिए विरह–वर्णन में यह जुड़ जाता है। इतने लंबे समय बाद प्रिय से साक्षात्कार हुआ है लेकिन विरह का ताप अभी भी बचा हुआ है। राजमती मुस्करा रही है, हँस रही है, प्रियतम को आलिंगन भी देती है लेकिन पलंग पर नहीं बैठ रही है और न ही बीसलदेव द्वारा दिया गया पान ले रही है। वह कह रही है कि ऐसे स्वामी का मैं विश्वास नहीं करती हूँ। तुमने बारह वर्ष तक मुझे क्यों छोड़ रखा था ? इतने वर्षों का वियोग ही पति के वापस आने के बाद भी राजमती को ऐसे कथन के लिए विवश कर रहा है –

ऊलग जाइ तइं किसउ कियउ नाह।
मोडि उसीसउ नइ सूतउ बांह।

कठिन पयोहर नू मिल्या।
केली गरभ सा नू मिल्या गात।
जांघ जोड़ावउ नू निरषिया।
रंग भरि रयणि न षेलियउ षेल।
देव सतायौ तूं फिर आउ।
स्वामी घी विणजियउ नइ जीमियउ तेल।।[77]

वह कहती है चाकरी पर जाकर तुमने कैसा कार्य किया ? बाँह को तकिये के रूप में मोड़ कर शयन किया। न तो अपनी स्त्री के पयोधरों का और न ही कदली–गर्भ के समान उसके कोमल गात का मर्दन किया। प्रियतम की अनुपस्थिति में उसने यौवन को शील के बंधन में जकड़ रखा था। वही यौवन विरह का प्रतिकार इन कथनों के माध्यम से ले रहा है। वह कहती है तुम तो भाग्य के सताये हुए वापस लौटे हो। ऐसी स्त्री पाने के बाद भी तुमने जीवन के इतने वर्ष यूँ ही गुजार दिये। वह कहती है यह इसी प्रकार है जैसे कोई घी का व्यापार करे लेकिन खाये तेल। यह तीक्ष्णता स्वाभाविक भी है। राजमती का जो चरित्र नरपति नाल्ह ने गढ़ा है वह विरह–वर्णन में अपनी पूर्णता तक पहुंच जाता है। पूरे विरह–वर्णन में उद्वेग या उन्माद की अवस्था में एकालाप नहीं है। वेदना में भी आत्मसम्मान का जो तेज नरपति नाल्ह ने राजमती के विरह में भरा है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

2.4 बीसलदेव रास में विरह वर्णन का स्वरूप : शिल्पविधान

ग्रंथ के परिचय में स्पष्ट किया जा चुका है कि यह लोककवि द्वारा मूलतः गाने के लिए लिखी गई रचना है। ग्रंथ का पूरा शिल्प लोक–कथाओं सा है। लोक–कथाओं में जिस प्रकार मुख्य घटना एक या दो होती है उसके बाद में पूरी वर्णनात्मकता होती है, जिसमें बीच–बीच में लोकगीत भी आते रहते हैं; बीसलदेव रास में भी वैसे ही मुख्य घटनाएं दो हैं। पूरी रचना वर्णनात्मक है विरह में भी लोककथाओं की यही वर्णनात्मकता है। रानी हर संभव कोशिश करके राजा को रोकती है, फिर भी वह नहीं रुकता। रानी राजा के प्रस्थान करते ही मूर्छित हो जाती है। जिस प्रकार लोक–कथाओं में विभिन्न पात्र समय–समय पर आते जाते हैं वैसे ही बीसलदेवरास में भी पात्र समय–समय पर आ रहे हैं। मूर्छितावस्था में रानी की सात सहेलियाँ उसके समीप हैं। थोड़ी चेतना आने के साथ ही वे रानी को दमयंती का उदाहरण देकर ढाँढ़स बँधा रही हैं। राजमती सूने राजभवन

में रो रही है तो पड़ोसिनें आकर बैठी हैं। इस प्रकार के चरित्रों के आने से वर्णन निरंतर नवीन होता जाता है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है ऐसे चरित्रों के कथन। इनके कथन के माध्यम से कवि लगातार समाज–प्रचलित कार्यकलापों को उद्‌घाटित करता चल रहा है। एक ओर तो राजमती और बीसलदेव की मुख्य कथा चल रही है दूसरी ओर इन चरित्रों के माध्यम से तत्कालीन समाज का मनोविज्ञान भी समय–समय पर स्पष्ट होता जा रहा है। राजमती को रोते हुए देखकर पड़ोसिनें कह रही हैं –

जोवइ निसंतान जेउं वइ गया।
सषीय इणि कति नाह कोइ ऊलग जाइ।।[78]

राजमती की उपमा निःसंतान स्त्री से दी जा रही है। उस समय निश्चित रूप से ऐसा चलन रहा होगा कि निःसंतान स्त्री को पुरुष छोड़ देता था। चाकरी के बहाने वह विदेश चला जाता था। आज भी यह चलन देखने को मिलता है। एक स्थान पर राजमती की सास कह रही है कि बहू घर में आओ वरना चन्द्रमा के धोखे में तुम्हें राहु निगल लेगा। तुम्हारा मुख विशाल (पूर्ण) चन्द्रमा बन गया है। दूध किस प्रकार बिल्ली के फेरे से बच सकता है। यहाँ राहु और बिल्ली अभिधात्मक ही नहीं है। राजमती की सास का यह पूरा कथन प्रतीकात्मक है। राजमती का पूर्ण चन्द्र समान मुख उसके पूर्ण यौवन का प्रतीक है। बिल्ली और राहु जिन दुराचारियों के प्रतीक हैं उनसे राजमती का यौवन असुरक्षित है, रात में तो और भी अधिक ! आगे कवि ने बेहद सटीक विरोधाभास उपस्थित किया है –

पवनहि दीवलउ नवि बलइ।
नाह उडीसइ धण अजमेरि।।[79]

पवन से दीपक नहीं जलता। राजमती के हृदय में प्रियमिलनोत्कंठा तो दीपक के समान है लेकिन बीसलदेव पवन के समान है। पवन तो दीपक को बुझाने का कार्य करता है। यही कार्य बीसलदेव ने भी किया। उसकी निष्ठुरता से तो राजमती को विरक्ति होनी चाहिए।

रचनाकार द्वारा लाये गये ये चरित्र विरह वर्णन को जीवंत बनाते हैं। इन पात्रों के कारण ही ग्रंथ को पढ़ने पर ऐसा आभास होता है जैसे रंगमंच पर इसका मंचन हो रहा हो। रंगमंच में ऐसा प्रयोग काफी प्रचलित है। एक ओर तो मुख्य कथा का मंचन निरंतर चल रहा है दूसरी ओर कुछ ऐसे सहायक पात्र आते रहते हैं जो मुख्य कथा से परोक्ष रूप से जुड़े होते हैं, लेकिन महत्त्वपूर्ण कथन को दर्शकों तक सम्प्रेषित करते हैं। ये पात्र मुख्य कथा को आगे बढ़ाने के लिए आते हैं। इस प्रकार मंच पर इनका महत्व दुगुना हो जाता

है। राजमती की सास, सहेलियाँ और पड़ोसिनें ऐसे ही चरित्र हैं। विरह–वर्णन को और अधिक उदात्त बनाने के लिए कुछ सतीत्व–परीक्षा जैसे प्रसंग भी लोक–कथाओं में जोड़ दिए जाते हैं। ऐसा ही एक प्रसंग बीसलदेवरास में भी आया है। राजमती का साक्षात्कार एक ऐसी कुटनी से होता है जो उसके सतीत्व को नष्ट करना चाहती है –

असीय बरस की बूढइ बेस।
दंत कवाड़्या सिरि पांडुरा केस।
आइ अवासइ संचरी।
गलइ लागी आनइ रुदन करंति।
किउं दिन काटइ हे भाणिजी।
रात दिवस मोनइ थारडी चिंत।
जेतलइ आवइ सइंभरि धणी।
तो नइ महा अपूरब करि द्युं मीत।।[80]

अस्सी वर्ष की उस बूढ़ी कुटनी के दाँत कौड़ों जैसे चमकाए हुए हैं। उसके सिर के बाल सफेद हैं। राजमती के पास पहुँचकर उससे गले लग के रोती हुई कह रही है कि हे भांजी ! मुझे रात–दिन तुम्हारी ही चिंता रहती है कि तुम अपना दिन कैसे काट रही होगी। जब तक सांभरपति प्रवास से वापस नहीं आते हैं तब तक मैं तुम्हें एक महा अपूर्व मित्र से मिलवा देती हूँ। लोक–कथाओं में भी नायिकाओं को बहलाने–फुसलाने के लिए ऐसे चरित्र खूब आते हैं। आये भी क्यों नहीं। जब सीता जैसी स्त्री को अग्नि परीक्षा देनी पड़ी थी तो लोक–नायिकाओं की चारित्रिक शुद्धता के खरेपन को भी ऐसी कसौटियों पर क्यों न कसा जाए। रचनाकार की सम्पूर्ण रचना–प्रक्रिया तो समाज से ही जुड़ी है। इसीलिए जब सीता जैसी नायिका की चारित्रिक परीक्षा होती थी तो राजमती जैसी नायिका को समाज क्यों बख्श दे ! मध्यकाल से लेकर आज तक स्त्री का व्यक्तित्व उसकी चारित्रिक शुद्धता पर ही निर्भर करता है। आश्चर्य सिर्फ यह है कि ऐसी कसौटियाँ जितनी लोक में प्रचलित हैं उतनी शास्त्रों में नहीं हैं। वैसे भी शास्त्रों की कसौटियाँ भी तो शास्त्रीय ही होंगी। नरपति ने लोक–प्रचलित महत्वपूर्ण कसौटी का प्रयोग बीसलदेव रास में किया है।

विरह–वर्णन में संदेश भेजने का प्रसंग आता है। यहाँ संदेशवाहक एक पंडित है। नरपति नाल्ह ने पात्रों का चयन भी पूरी सजगता से किया है। पंडित के समान पढ़ा–लिखा और बातों को समझने वाला संदेशवाहक दूसरा कोई नहीं हो सकता। पंडित का चरित्र अंततः लोक–प्रचलित पंडित वाला ही रह जाता है। आज भी गाँवों–घरों में जो

कहानियाँ कही–सुनायी जाती हैं उनमें के पंडित चरित्र भी ऐसे ही होते हैं। राजमती अपनी समझदारी के अनुरूप पंडित को संदेशवाहक बना लेती है, लेकिन पंडित पूरी रचना में अपने लोक–प्रसिद्ध पंडित रूप में ही है। कहाँ तो राजमती की ऐसी दयनीय दशा और वेदना से भरा हुआ संदेश, लेकिन पंडित जी अपने चाल के अनुसार खाते–पीते सातवें महीने उड़ीसा पहुँचते हैं। वहीं दूसरा संदेशवाहक एक योगी है जो राजा का संदेश लेकर अजमेर आता है। वह कुछ ही समय में अजमेर पहुँच जाता है। ऐसे प्रयोग लोककथाओं में ही मिलते हैं। इन दोनों चरित्रों के संदर्भ में नामवर सिंह लिखते हैं –

"राजा को घर की सुधि आती है और वह भी घर पहुँचने से पहले पत्र देकर एक सिद्ध योगी को भेजता है क्योंकि इतना जल्दी उसके सिवा और पहुँच ही कौन सकता है। प्रिया और प्रिय के संदेश वाहकों में कितना विरोध है। भावों के प्रतीक हों तो ऐसे।"[81]

विरह–वर्णन में जहाँ भी राजमती की शारीरिक दुर्बलताओं का चित्रण किया गया है उन सभी जगहों पर लोक–प्रचलित वाक्यों का ही प्रयोग है। एक स्थान पर संदेश–कथन के दौरान वह पंडित से कहती है –

दीह गिणंता नह घस्या।
म्हांकी काग उडावतां थाकीय जीमणी बांह।।[82]

प्रियतम द्वारा दिये गये दिन को गिनते हुए नायिका की अंगुलियों का नख से जर्जरित हो जाने का प्रसंग हेमचंद्र के यहाँ भी मिलता है –

जे महु दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसन्तेण।
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण।।[83]

हेमचंद्र के इन दोहों के संदर्भ में गुलेरी जी का कहना है कि ये उनके समय से काफी पहले ही लोक में प्रचलित थे। प्रिय आगमन से पूर्व कौओं द्वारा इसकी सूचना प्रदान करने की मान्यता आज भी उतनी ही प्रचलित है। राजमती भी रोज–रोज ऐसे कौओं को उड़ाते–उड़ाते थक गयी है, लेकिन प्रियतम का आगमन अभी तक नहीं हुआ।

लोक परम्परा प्रदत्त स्थिति–साम्य वाली प्रवृत्ति का भी कई बार प्रयोग बीसलदेव रास में हुआ है। कभी राजमती की पति–परित्यक्ता वाली स्थिति की तुलना दमयंती से की गई है तो कभी स्वयं राजमती सीता और राम की कथा के द्वारा बीसलदेव को समझाना चाहती है। वह उद्‌बोधन के स्वर में कहती है कि राम ने स्त्री के लिए समुद्र

पर सेतु बाँध दिया। सूरदास की गोपियाँ भी कृष्ण के प्रति अपना उपालंभ सीता और राम की कथा के आधार पर प्रेषित करती हुई कहती हैं –

हरि सों भलो सो पति सीता को।
बन बन खोजत फिरत बंधु सँग कियो सिंधु बीता को।।[84]

राजमती की विरह–जन्य स्थिति के लिए जिन उपमानों का प्रयोग किया गया है वह भी सामान्य–जन के बीच से लिए गये हैं। अपनी तुलना हेड़े के उपेक्षित घोड़े से करती हुई राजमती कहती है –

हेडाऊ का तुरिय जिउं।
हाथ न फेरइ सउ सउ बार।।[85]

मैं तो लेंहड़ी के उस उपेक्षित घोड़े के समान हो गयी हूँ जिस पर उसका स्वामी सौ–सौ दिनों तक हाथ नहीं फेरता। कवि राजमती की शारीरिक दशा को बताते हुए कह रहा है – वह ऐसी हो गयी है मानो स्वर्ण की कुप्पी पर मोम की तह लगी हो। ऐसे उपमान अन्य किसी भी कवि के यहाँ इतनी सजगता से उपलब्ध नहीं हैं। विरह की तुलना तो सर्प से की जाती है, लेकिन विरह–पीड़िता के लिए सर्प और प्रियतम के लिए गारूड़ी का रूपक अन्यत्र नहीं मिलता है।

भाव में निरंतर अभाव की चेतना तो राजमती को अन्य विरहिणियों के क्रम में ही रखता है लेकिन कथन की विदग्धता और नाल्ह का शब्द चयन उसे भिन्न कोटि प्रदान करता है। हिन्दी साहित्य में आगे सूर की गोपियाँ ही कथन की इस विदग्धता तक पहुँच पाती हैं।

बीसलदेव रास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता भावावेग के साथ भाव की विदग्धता के संयोग में है। हिन्दी साहित्य में आगे के संदेश–काव्यों में ये दोनों तत्व एक साथ बहुत कम मिलते हैं। सूर के यहाँ ये दोनो तत्व उपलब्ध हैं लेकिन अधिकांशतः अलग–अलग पदों में। एक ही छंद में दोनो तत्व एक साथ बहुत कम मिलते हैं। बीसलदेव द्वारा भेजा गया पत्र जब राजमती को मिलता है तो उसकी स्थिति का चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है –

चीरी रही गोरी गलइ लगाइ।
जाणि करि बाछडइ स्यु मिली गाइ।
नइणां थी लोही पडइ।

परिहसि रूनी भीनउ छइ हार।
जिण विण घडीय न जीवती।
हिवइ ताहि स्युं हुआ चीरी विवहार।।[86]

चिट्ठी को राजमती ने इस प्रकार गले से लगा लिया है जैसे बछड़े से बहुत दिनों बाद गाय का संगम हो रहा हो। उसके नेत्रों से लहू के आँसू गिर रहे हैं। समय के इस परिहास से रोती हुई राजमती का हार उसके आँसुओं से भीग गया है। वह सोच रही है जिसके बिना वह एक घड़ी भी जी नहीं पाती थी अब उसी से पत्र–व्यवहार की स्थिति आ गयी है।

कृष्ण की चिट्ठी देखकर भाव का ऐसा ही आवेग गोपियों के मन में भी उठता है। उसे चित्रित करते हुए सूरदास ने लिखा है –

निरखत अंक स्यामसुंदर के बार बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गइ स्याम स्याम की पाती।[87]

इस वर्णन में भाव का आवेग तो है लेकिन वह विदग्धता नहीं है जो नाल्ह के छंद के अंत में है। भाव की यह विदग्धता 'रत्नाकर' के 'उद्धव–शतक' में तो है लेकिन वहाँ भाव का आवेग गायब है –

लाइ–लाइ पाती छाती कब लौं सिरैहैं हाय।
धरि–धरि ध्यान धीर कब लगि धरिहैं।।
बैननि उचारिहैं उराहनौ कबै धौं सबै।
स्याम कौ सलोनौ रूप नैनन निहारिहैं।।[88]

नाल्ह के यहाँ इस प्रकार के दोनों तत्वों से युक्त छंद अभिव्यक्ति की सहजता के कारण आये हैं। लोक–कथाओं के जिस शिल्प का आधार लेकर पूरे ग्रंथ की रचना की गई है उसमें सजगता से अधिक सहजता है। शिल्प की यह सहजता और भाषा–कवि का शब्द चयन ही इसे अन्य संदेश–काव्यों से अलग स्थान प्रदान करता है।

शिल्प के ही माध्यम से नाल्ह राजमती जैसी रानी को लोक–कथाओं की नायिका बनाने में सक्षम हो सका है। बीसलदेव के अजमेर वापस आ जाने के बाद तुरंत ही राजमती का कथन है –

ऊलग पूगि घरि आवियउ भरतार।
जाणि करि उतरी समुंद कउ पार।

कलंक न कोई सिर चडिउ।
बाधतउ जोबन बिरह की झाल।
लंछण को लागउ नही।
पगि पगि सषीय न झंषियउ आल।।[88]

पति के प्रवास से वापस आने के बाद कोई सामान्य स्त्री ही ऐसा कहेगी कि प्रवास की अवधि मैंने सकुशल बिता दिया, जैसे अब समुद्र के पार उतर गयी। इस वियोग की अवधि में मेरे माथे पर कोई कलंक नहीं चढ़ा। बढ़ते हुए यौवन और विरह की ज्वाला में मेरे चरित्र पर कोई लांछन नहीं लगा। पग–पग पर कलंक लगने के कारण मैं व्यथित नहीं हुई। किसी दैवीय या राजसी चरित्र को तो ऐसे कलंकारोपण या लांछना की कोई आशंका ही नहीं हो सकती है। राम द्वारा अग्नि–परीक्षा की बात करने से पूर्व सीता के मन में भी ऐसा कोई भाव नहीं था, लेकिन राजमती को आद्यंत इसकी ही चिंता सताती रही है। प्रिय के वापस आ जाने के बाद मानों उसने सागर को पार कर लिया हो। यह कथन बीसलदेव रास के लोक–कथाओं वाले शिल्प को पूर्णता प्रदान करता है। नाल्ह ने रानी को मात्र सामान्य स्त्री के रूप में ही चित्रित नहीं किया है बल्कि उसे बाहर से लेकर भीतर तक पूरी तरह लोक की नायिका बना दिया है।

ग्रंथ की पूरी संवेदना का आधार उसका शिल्प है। अंतर्वस्तु तो कोई बहुत विशिष्ट नहीं है लेकिन उसके कहन की विशिष्टता उसे विशिष्ट बना देती है। बीसलदेव रास की पूरी विशेषता राजमती जैसा चरित्र गढ़ने में है और यह चरित्र ग्रंथ के ऐसे शिल्प की ही वजह से संभव हो सका है।

संदर्भ

1. शृंगार प्रकाश, 5/45
2. वही, 5/52
3. साहित्य दर्पण, 3/187
4. रसतरंगिणी, षष्ट तरंग (अपभ्रंश के चरित काव्यों में नारी के बहु–आयामी व्यक्तित्व, पृ. 88)
5. सरस्वती कंठाभरण, 5/47–50
6. साहित्य दर्पण, 3/187
7. संदेशरासक, पृ. 148
8. वही, पृ. 149
9. वही, पृ. 150
10. वही, पृ. 158
11. रामचरितमानस, 5/30/5
12. संदेशरासक, पृ. 159
13. वही, पृ. 159
14. वही, पृ. 159
15. वही, पृ. 160
16. वही, पृ. 160
17. वही, पृ. 161
18. वही, पृ. 163
19. वही, पृ. 165
20. वही, पृ. 163
21. वही, पृ. 164
22. वही, पृ. 165
23. वही, पृ. 165
24. वही, पृ. 167
25. वही, पृ. 167
26. वही, पृ. 170
27. वही, पृ. 167
28. वही, पृ. 82–83
29. वही, पृ. 152
30. रामचरितमानस, 7/127/1, 5
31. पद्मावत, पृ. 310
32. संदेशरासक, पृ. 159
33. वही, पृ. 158
34. वही, पृ. 164
35. वही, पृ. 160–161
36. वही, पृ. 169–170

37. संदेशरासक, पृ. 158
38. घनानंद कवित्त, पृ. 17
39. संदेशरासक, पृ. 169
40. वही, पृ. 159
41. हिन्दी साहित्य में अपभ्रंश का योग, पृ. 283
42. संदेशरासक, पृ. 163
43. घनानंद कवित्त, पृ. 73
44. बीसलदेव रास, पृ. 145
45. पद्मावत, पृ. 303
46. बीसलदेवरास, पृ. 132
47. वही, पृ. 146
48. वही, पृ. 121–122
49. वही, पृ. 148
50. वही, पृ. 123–124
51. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ. 232
52. नागार्जुन रचना संचयन, पृ. 64
53. बीसलदेवरास, पृ. 124–125
54. वही, पृ. 161
55. वही, पृ. 161
56. वही, पृ. 161–162
57. वही, पृ. 162–163
58. मीरा का काव्य, पृ. 101–102
59. पदमचरिउ, पृ. 198
60. बीसलदेवरास, पृ. 163–164
61. लोकवादी तुलसीदास, पृ. 51
62. रामचरितमानस, 2/139/1–4
63. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ. 233
64. बीसलदेवरास, पृ. 166–167
65. वही, पृ. 167–168
66. वही, पृ. 168–169
67. वही, पृ. 116
68. वही, पृ. 171
69. वही, पृ. 172
70. वही, पृ. 172–173
71. पद्मावत, पृ. 303
72. बीसलदेवरास, पृ. 173–174
73. वही, पृ. 175
74. वही, पृ. 175
75. वही, पृ. 175–176

76. बीसलदेवरास, पृ. 209
77. वही, पृ. 211–212
78. वही, पृ. 148
79. वही, पृ. 162
80. वही, पृ. 164–165
81. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ. 234
82. बीसलदेवरास, पृ. 173
83. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ. 274
84. भ्रमरगीतसार, पृ. 76
85. बीसलदेवरास, पृ. 128
86. वही, पृ. 201–202
87. भ्रमरगीतसार, पृ. 68
88. उद्धवशतक, पृ. 59

तृतीय अध्याय

विरह–वर्णन और प्रकृति

3.1 साहित्य में प्रकृति

3.2 संदेशरासक में प्रकृति

3.3 बीसलदेवरास में प्रकृति

3.1 साहित्य में प्रकृति

सदियों से चली आ रही मानव–चेतना के विकास–धारा को साहित्य में मूर्त रूप में देखा जा सकता है। साहित्य संस्कृति की समृद्धि का प्रमाण है। युगों से चले आ रहे त्याग और ग्रहण, आदान और प्रदान से संस्कृति का निर्माण हुआ। संस्कृति की इस निर्माण–प्रक्रिया में मनुष्य को आदिम जीवन से सभ्य और सभ्य से सांस्कृतिक बनने में लम्बे समय तक अपने आदिम जड़ वृत्तियों से संघर्ष करना पड़ा है। इस दीर्घकालीन संघर्ष के पश्चात् जिस मानवीय चेतना का विकास हुआ, उसी का प्रतिफल साहित्य है। मनुष्यता की इस विकास यात्रा में प्रकृति चिरकाल से अपना योग देती आ रही है। प्रकृति एक चेतन सत्ता है और मनुष्य इसी चेतन सत्ता का एक महत्त्वपूर्ण उपादान है। इसी कारण मानवीय चेतना रूपी साहित्य में सर्वत्र प्रकृति प्रतिबिम्बित होती रहती है। प्राकृतिक उपादानों की उपज होने के कारण मनुष्य का प्रकृति से स्वाभाविक आकर्षण है इसीलिए साहित्य में प्रकृति का प्रवेश सहज रूप में हुआ है। विश्व–साहित्य की प्रथम रचना वेदों में प्रकृति ही सर्वोच्च सत्ता है। ऋग्वेद के मंत्रों में प्रकृति के शान्त, समृद्ध और शक्ति–सम्पन्न तीनों रूपों का वर्णन किया गया है। इसमें जहाँ एक ओर प्रकृति के आह्लादक चित्र हैं वहीं दूसरी ओर उसके उग्र रूप का भी वर्णन है। वैदिक ऋषि प्रकृति के इन दोनों रूपों से पूर्णतः परिचित हैं, क्योंकि जगत के आरम्भ से ही मनुष्य का साहचर्य प्रकृति के इन दोनों रूपों से है।

प्रकृति अपने आप में एक पूर्ण व्यवस्था है और मनुष्य भी इसका एक अंग है। प्रकृति के यहाँ अव्यवस्था भी एक सार्वभौम नियम से संचालित होती हुई एक प्रकार का सामंजस्य स्थापित करती है। इसी व्यवस्था के अंतर्गत मनुष्य भी नियंत्रित होता है इसी कारण इस प्राकृतिक जगत के प्रति उसका सहज आकर्षण है। यह सहज आकर्षण ही उसकी समस्त सर्वोत्तम कृतियों में उपलब्ध है। वेदों से लेकर आधुनिक कविता में प्रकृति इसी आकर्षण को मूर्त रूप प्रदान करती है। व्यक्ति उसी से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर पाता है जिसमें वह अपनी चेतना का प्रतिरूप देख सके। प्रकृति ही एक मात्र ऐसी चेतन सत्ता है जो मनुष्य की चेतना के निर्माण के साथ ही साथ उसे निरन्तर विस्तृत भी करती है। मनुष्य आदिम युग से ही अपनी चेतना को प्रकृति में लय करके उसे पूर्णता प्रदान करने का प्रयास करता चला आ रहा है। पूर्णता प्राप्त करने की इस प्रक्रिया में उसका साक्षात्कार प्रकृति के शांत और प्रचंड दोनों रूपों से होता है। दोनों रूपों में लय होकर उसका साक्षात्कार करा देने वाला कवि ही प्रकृति के वास्तविक रूप को उद्‌घाटित

करने में सक्षम हाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं – "अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है – कहीं मधुर, सुसज्जित या सुंदर रूप में, कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में, कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में, कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख–भोग नहीं, बल्कि चिर साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है।"[1]

वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के इस साहचर्य को पूर्ण रूप से चित्रित किया है। वैदिक–साहित्य के अन्य अंगों जैसे ब्राह्मण, उपनिषद, और आरण्यक में भी प्रकृति का प्रतीक, रूपक और उपमान के रूप में विस्तृत वर्णन मिलता है। उपनिषदों में रहस्य–भावना के वर्णन में प्रकृति को ही माध्यम बनाया गया है। लौकिक संस्कृत साहित्य को प्रकृति–निरीक्षण वैदिक वाङ्मय से विरासत के रूप में प्राप्त हुआ है। आदिकवि के यहाँ प्रकृति का सुंदर वर्णन उपलब्ध है। उन्होंने मन्दाकिनी की शोभा का वर्णन इन शब्दों में किया है –

विचित्र पुलिनां रम्यां हंससारसेविताम्।
कुसुमैरूपसम्पन्नां पश्य मन्दाकिनी नदीम्।।
मारूतोद्धूत शिखरैः प्रनृत इव पर्वतः।
पादपैः पुष्पपत्राणि सृजद्भिरभितो नदीम्।।[2]

भारतीय मानस में आरम्भ से ही प्रकृति के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण रहा है। वेदों और उपनिषदों में तो इसकी विस्तृत चर्चा है ही लौकिक साहित्य में भी इसे अलंकारों के संयोजन में मुख्य रूप से देखा जा सकता है। प्रकृति का शाश्वत और चिरसुंदर रूप ही उसे आध्यात्मिकता प्रदान करता है। वह मानव जीवन में 'सत्यं शिवं सुन्दरं' के प्रतिबिम्ब रूप में क्रीड़ा करती है। मनुष्य को नित्य अपने नवीन रूप से आकर्षित करती है –

क्षणै क्षणै यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।।[3]

प्रकृति के इसी क्षण–क्षण परिवर्तित नूतन रूप पर मनुष्य मुग्ध होता आया है और अपनी सौन्दर्य चेतना को प्रकृति के माध्यम से कविता में मूर्त रूप देता आया है। आरम्भ में साहित्य में प्रकृति का स्थान स्वतंत्र सत्ता के रूप में था लेकिन धीरे–धीरे परवर्ती साहित्य में प्रकृति–वर्णन अपनी स्वाभाविकता से इतर रूढ़िवादी होता चला गया। कालिदास, माघ, भारवि, बाणभट्ट, भवभूति, जयदेव आदि संस्कृत रचनाकारों के यहाँ प्रकृति का मनोहारी चित्रण स्वतंत्र और मनोभावों के उद्दीपक दोनों रूपों में हुआ है। जिस

रचना में प्रकृति का जितना सजीव और स्वतंत्र चित्रण हुआ है वह उतनी ही सुंदर और स्थायी है। उदाहरण के लिए वेद, रामायण, रघुवंश, कुमारसंभव, ऋतुसंहार, मेघदूत, कादम्बरी, उत्तररामचरित और गीत गोविन्द को लिया जा सकता है। वैदिक साहित्य को तो पूर्णरूपेण प्रकृति–काव्य कहा जा सकता है। ऊपर वर्णित परवर्ती रचनाकारों की कविता में भले ही प्रकृति मनोभावों के उद्दीपक रूप में आयी है, लेकिन यहाँ भी वह मनुष्य के आंतरिक भावों को स्पर्श कराने के साधन रूप में ही है।

प्रकृति–वर्णन की परम्परा तो वेदों से ही चली आ रही है लेकिन साहित्य में स्वतंत्र रूप से ऋतुवर्णन की परम्परा कालिदास के 'ऋतुसंहार' से शुरू होती है। इसके छः सर्गों में छः ऋतुओं का वर्णन किया गया है। ऋतुचक्र के परिवर्तन के साथ ही साथ भारत–भूमि की सुषमा में जो परिवर्तन होता है उसकी मनोहारी झाँकी इस ग्रन्थ में प्रस्तुत की गयी है। वर्षा ऋतु के वर्णन में मेघों की कृतज्ञता को मूर्त रूप देता हुआ कवि कहता है –

जलधरविनतानामाश्रयोऽस्माकमुच्चैरयमिति जलसेकैस्तोयदास्तोयनम्रा
अतिशयपरूपाभिग्रीष्मवह्नेः शिखाभिः, समुपजनिततापं ह्लादयन्तीव विन्ध्यम्।।[4]

ऋतुसंहार के पश्चात् पुनः मेघदूत में भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य को उसी रूप में देखा जा सकता है। इस संदर्भ में डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी ने लिखा है – "कालिदास के पहले ऐसा कोई काव्य रचा ही नहीं गया था, जिसमें कवि कोई कथा नहीं कहता, पात्र के मन की परतें उघाड़ता हुआ मनुष्य के स्वप्न, आकांक्षा और मनोलोक का चित्रण करता है। इसके साथ ही कवि ने इसमें यक्ष की उक्तियों में बाहर के विश्व को भी समेट लिया है। अंतः प्रकृति या मानवमन तथा बाह्य प्रकृति या जगत् का ऐसा दुर्लभ समागम भी अन्यत्र नहीं मिलता।"[5]

कालिदास के यहाँ चाहे प्रकृति स्वतंत्र रूप में आयी हो या फिर उद्दीपक रूप में, दोनों रूपों में उसके सामान्य सुरम्य और भव्य रूप का चित्रण है। कालिदास, भवभूति, भारवि आदि रचनाकारों के यहाँ यदि प्रकृति कहीं रूढ़ि या चमत्कार–प्रदर्शन के लिए आयी है तो उसका सम्बन्ध भी सौन्दर्य की अभिव्यंजना से है। परवर्ती रचनाकारों के यहाँ सौन्दर्य–अभिव्यंजना की चमत्कार–प्रदर्शन वाली पद्धति ही रूढ़ होती चली गयी। उसमें स्वाभाविकता का अभाव हो गया और मध्यकाल आते–आते प्रकृति वर्णन एक सीमित और अत्यंत कृत्रिम रूप में होने लगा। ऋतुवर्णन ही प्रकृति–वर्णन का केन्द्र हो गया और इसका भी रूप उद्दीपन तक ही सीमित कर दिया गया। इस संदर्भ में शुक्ल जी का मत

है –

"कालिदास के समय से या उसके कुछ पहले से ही दृश्यवर्णन के सम्बन्ध में कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल–वर्णन में तो वस्तु–वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु–वर्णन में चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया, जितना कुछ इनी–गिनी वस्तुओं का कथन मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है ऋतु–वर्णन वैसे ही फुटकल पद्यों के रूप में पढ़े जाने लगे जैसे 'बारहमासा' पढ़ा जाता है।"[6]

प्रकृति–वर्णन के कृत्रिम होने का दूसरा कारण है मध्यकाल में काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों की स्थापना। संस्कृत–साहित्य के मध्यकाल में रचनात्मकता की अपेक्षा काव्यशास्त्रीय खंडन–मंडन पर विशेष बल दिया गया। तत्कालीन साहित्यिक रचना स्वतंत्र न होकर आचार्यों द्वारा बनाये गये नियमों से बँध गयी थी। रचनाकार स्वतंत्र होकर रचना करने के बजाय आचार्यों द्वारा बनायी गयी परिपाटी का अनुकरण करने लगा। इसका पूरा प्रभाव प्रकृति–चित्रण पर पड़ा। आचार्यों ने यह निश्चित कर दिया था कि प्रकृति–चित्रण कब, कहाँ, किस रूप में करना चाहिए। काव्य–मीमांसा के काल–विभाग में राजशेखर ने लिखा है कि कवि को कवि–परम्परा के अनुरूप ही चित्रण करना चाहिए –

देशेषु पदार्थानां व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य।
तन्न तथा बध्नीयात्कविबाद्धमिह प्रभावं नः।।[7]

वर्णरत्नाकर में भी छः ऋतुओं के वर्णन सम्बन्धी निर्देश दिये गये हैं। महाकाव्यों में अवकाश होने के कारण थोड़ा–बहुत स्वतंत्र प्रकृति–वर्णन मिल भी जाता है लेकिन नाटकों एवं अन्य लघुकाव्यों में इसका अभाव हो गया। ऋतुवर्णन की यह परम्परा संस्कृत साहित्य से उसी रूप में हिंदी में चली आयी है। संदेशरासक, पृथ्वीराज रासो, ढोला मारू रा दूहा आदि रचनाओं में इसे देखा जा सकता है। प्रकृति–वर्णन की एक अन्य परम्परा 'बारहमासा' है। बारहमासा संस्कृत–साहित्य में नहीं मिलता। हिंदी साहित्य में बारहमासा लोक की एक विशिष्ट देन है। इसी बारहमासा–वर्णन के आधार पर किया गया नागमती का वियोग–वर्णन हिंदी साहित्य में अमर हो गया है। बारहमासा का वर्णन गुजराती, राजस्थानी और हिंदी की विभिन्न बोलियों के लोकगीतों में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। साहित्य में सामान्यतः यह धारणा रही है कि ऋतुवर्णन संयोग शृंगार में किया जाता है और बारहमासा का वियोग में। इसके अपवाद भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं, जैसे संदेश रासक का ऋतुवर्णन विरह के संदर्भ में है। बहुत–सी रचनाओं में इस धारणा की पुष्टि भी होती

है जैसे पद्मावत में ही संयोग का वर्णन ऋतुवर्णन के आधार पर किया गया है तो वियोग का बारहमासा के आधार पर। इसी को आधार बनाकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है –

"प्राप्त प्रथा के अनुसार पद्मावती के संयोग सुख के सम्बन्ध में षड्ऋतु और नागमती की विरह वेदना के प्रसंग में बारहमासा का चित्रण किया गया है।"[8]

अब तक प्राप्त समस्त हिन्दी साहित्य में बारहमासा का पहला वर्णन जैन कवि 'विनयचंद्र सूरि' द्वारा रचित 'नेमिनाथ चउपई' में मिलता है। यह चालीस छंदों की एक छोटी–रचना है। इसी में राजुल या राजमती के विरह–वर्णन के संदर्भ में सबसे पहले बारहमासा पद्धति का प्रयोग किया गया है। नेमिनाथ चउपई में बारहमासा का आरम्भ सावन से और अंत आषाढ़ में हुआ है। पद्मावत और नेमिनाथ चउपई की तुलना बारहमासा के आधार पर करते हुए डॉ. शम्भूनाथ पाण्डेय ने लिखा है –

"शुक्ल जी ने जायसी को विप्रलम्भ शृंगार का प्रधान कवि माना है। क्योंकि जायसी के विरहोद्गार अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं। जो वेदना, जो कोमलता, जो सरलता और जो गंभीरता इनके वचनों में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'नेमिनाथ चउपई' में भी ये गुण बड़े सहज और सरल रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि छोटी रचना होने के कारण वर्णन की वह विशदता (व्यापकता) इसमें नहीं है जैसा कि प्रबंध–काव्य होने के कारण 'पद्मावत' में मिलती है।"[9]

नेमिनाथ चउपई से प्रारम्भ विरह–वर्णन में बारहमासा की यह पद्धति विद्यापति और नरपति नाल्ह के यहाँ देखी जा सकती है। आदिकालीन कवियों में विद्यापति के बारहमासा–वर्णन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विद्यापति का बारहमासा मैथिली में है और पदावली में संकलित है। इसका प्रारम्भ आषाढ़ से होता है और समाप्ति ज्येष्ठ में –

मास अषाढ़ उनत नव मेघ।
पिया विसलेखे रहओ निरथेघ।।
जेठ मास उजर नव रंग।
कन्त चहए खल कामिनि संग।।[10]

पद्मावत में भी बारहमासा का आरम्भ आषाढ़ से हुआ है। इन ग्रंथों के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष दिया है कि बारहमासा का आरम्भ वर्षा ऋतु से अधिकांशतः आषाढ़ से प्रारम्भ होता है। लेकिन ऐसा कोई भी सर्वमान्य नियम नहीं है। विभिन्न कवियों को जिस प्रसंग में प्रकृति–वर्णन का अवकाश मिला है उन्होंने वहाँ से ही

प्रकृति–वर्णन आरम्भ किया है। इसका दूसरा कारण यह भी है कि भारतवर्ष में नये वर्ष का आरम्भ अलग–अलग धर्मों एवं स्थानों पर भिन्न–भिन्न महीनों से मानने की भी प्रथा रही है। इसीलिए जहाँ विद्यापति और जायसी बारहमासा का प्रारम्भ आषाढ़ से करते हैं वहीं नरपति नाल्ह कार्तिक से और केशवदास चैत्र से। यही बात षड्ऋतु वर्णन पर भी लागू होती है। प्रकृति–वर्णन की दोनों पद्धतियाँ परवर्ती काल तक चलती रही। इनमें भी प्रकृति का चित्रण कहीं स्वतंत्र रूप में हुआ तो कहीं मात्र उद्दीपक और रूढ़ रूप में।

वस्तुतः प्रकृति–वर्णन की दोनों पद्धतियों का प्रयोग रचनाकारों ने अपनी प्रतिभा और रुचि के अनुसार किया है। इनके लिए कवि द्वारा चुना गया काव्य रूप भी एक सीमा तक उत्तरदायी रहा है। महाकाव्यों में जहाँ स्वतंत्र रूप से प्रकृति–चित्रण का अवकाश है वहीं लघु–काव्यों या मुक्तकों में सीमित है। महाकाव्यों में आलम्बन रूप में प्रकृति चित्रण की शृंखला देखी जा सकती है वहीं मुक्तकों में यत्र–तत्र प्रकृति के चित्र बिखरे हुए मिलते हैं। दोनों काव्य रूपों में प्रकृति का आगमन सामान्य जन–जीवन के माध्यम से ही हुआ है, फिर भी इनके वर्णन में विभिन्नता है। इसका मुख्य कारण है विभिन्न काव्य रूपों की अपनी भिन्न–भिन्न विशेषतायें। महाकाव्यों में शास्त्रीय ग्रंथों द्वारा निर्देशित विभिन्न वर्णनों के समान ऋतुवर्णन को भी स्थान देने की प्रवृत्ति सुरक्षित रही। हालाँकि बाद में यह रूढ़ ही अधिक रही। मुक्तक या दूत–काव्यों का रूप सीधे–सीधे लोक–प्रचलित गीतियों से जुड़ा हुआ है। मुक्तकों या गीतिकाव्यों में गायक अपनी मनःस्थिति का आरोप प्रकृति के साम्य–वैषम्य के आधार पर सीधे कर देता है। गीतियों में गायक की भावना से प्रकृति का सीधा जुड़ाव रहता है। हाल की गाथासप्तशती में गीति और प्रकृति की यह भावना सहज रूप में विद्यमान है लेकिन परवर्ती काल में मुक्तकों में भी प्रकृति चित्रण सम्बन्धी धारणा रूढ़ होती चली गयी। मुक्तकों में तो कथा की कोई कल्पना ही नहीं है जिस कारण प्रकृति–वर्णन भी मुक्त रूप में ही होता है लेकिन महाकाव्यों में भी ऐसे स्थल बहुत कम हैं जहाँ प्रकृति–वर्णन का सम्बन्ध कथानक से है। यह रचनाकार की अपनी प्रतिभा का प्रमाण है कि वह रचना के कथानक से प्रकृति का कितना संवेदनात्मक जुड़ाव कर पाता है। जिस रचनाकार ने प्रकृति को कथानक के मूल भाव से जितना अधिक जोड़ा है वह प्रकृति–चित्रण में उतना अधिक सफल हुआ है। प्राकृतिक दृश्यों और मनुष्य के भाव के सम्बन्ध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है –

"प्राकृतिक दृश्य मनुष्य के भावों के स्वतंत्र आलम्बन भी होते हैं। प्राचीन कवियों ने उन्हें पात्र के आलम्बन के रूप में और श्रोता के आलम्बन के रूप में, दोनों रूपों में सन्निविष्ट किया है। 'कुमार संभव' का हिमालय वर्णन श्रोता या पाठक के आलम्बन के रूप में है। वाल्मीकि रामायण में लक्ष्मण का हेमंत के अंतर्गत पंचवटी दृश्य–वर्णन पात्र

श्रोता दोनों के भाव का आलम्बन है; वर्षा और शरत् का वर्णन पात्र (राम) के पक्ष में तो 'उद्दीपन' है किंतु रूप के सूक्ष्म विश्लेषण के बल से श्रोता के लिए आलम्बन हो गया है।"[11]

संदेशरासक और बीसलदेव रास में आने वाला प्रकृति–वर्णन उद्दीपन रूप में ही है। स्वाभाविक सम्बन्ध होने के कारण प्रकृति की चेतना से मनुष्य अपनी भाव–स्थिति की समानता करता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति प्रकृति के माध्यम से अपने भावों की व्यंजना करने लगता है। कभी–कभी वह प्रकृति पर अपने भावों और संवेदनाओं को आरोपित भी करने लगता है। इस स्थिति में कभी मनुष्य के भाव से प्रकृति प्रभावित नजर आती है तो कभी प्रकृति से मनुष्य के भाव। यह स्थिति उद्दीपन की स्थिति होती है। डॉ. रघुवंश ने इस सम्बन्ध में लिखा है –

"प्रकृति के विभिन्न दृश्यों और उनकी परिवर्तित होती स्थितियों में जो संचलन तथा गति का भाव छिपा है, वही सम–विषम होकर भावों को उद्दीप्त करता है। और कभी भावों की सम–विषम स्थिति से प्रकृति प्रभावित जान पड़ती है।"[12]

प्रकृति की गति के आधार पर विरहिणी के भावों का संवेदनात्मक वर्णन ही विवेच्य दोनों ग्रंथों के ऋतु–वर्णन के केन्द्र में है।

3.2 संदेशरासक में प्रकृति

संदेशरासक में प्रकृति का चित्रण दो रूपों में हुआ है। पहला प्रकृति–वर्णन द्वितीय प्रक्रम में पथिक द्वारा किये गये नगर–वर्णन के संदर्भ में है। नगर स्थिति उद्यानों का वर्णन करते हुए आलम्बन के अंतर्गत आने वाली नामपरिगणन वाली शैली अपनायी गयी है। इसमें विभिन्न वृक्षों एवं फलों–फूलों के नामों को गिनाया गया है। दूसरा प्रकृति–वर्णन तृतीय प्रक्रम में है जहाँ विरह–वर्णन के क्रम में षड्ऋतुओं का वर्णन किया गया है। वास्तव में तृतीय प्रक्रम की रचना ही षड्ऋतु वर्णन के लिए की गयी है।

षड्ऋतु वर्णन ही संदेश–रासक के प्रकृति वर्णन में महत्त्वपूर्ण है। द्वितीय प्रक्रम में किये गये वृक्षों और फल–फूलों के नाम परिगणन का प्रकृति के संदर्भ में कोई महत्त्व नहीं है। संदेशरासक का षड्ऋतु वर्णन पूर्ववर्ती काव्य परम्परा के अनुरूप ही है। हो भी क्यों नहीं, अब्दुलरहमान अपने समय के प्राकृत काव्य आदि विषयों में सुप्रसिद्ध था। पूर्ववर्णित परम्परा पर आधारित होने के बाद भी संदेशरासक के ऋतुवर्णन की अपनी

विशिष्टता है। प्रचलित परम्परा में ऋतुवर्णन का प्रयोग संयोग के संदर्भ में हुआ है लेकिन अब्दुलरहमान इसको विरह–वर्णन के संदर्भ में वर्णित करते हैं। 'मेघदूत' में भी विरह के सम्बन्ध में ऋतुवर्णन है लेकिन वह ऋतुवर्णन विरह की पूर्वपीठिका है। वहाँ कवि का उद्देश्य भारतवर्ष के सौन्दर्य को उद्घाटित करना है न कि मात्र उद्दीपक के रूप में पड़ने वाले प्राकृतिक प्रभाव को वर्णित करना। इसी को लक्ष्य कर विश्वनाथ त्रिपाठी संदेशरासक के ऋतुवर्णन को मेघदूत की अपेक्षा ऋतुसंहार के निकट मानते हैं –

"संदेश–रासक के प्रकृति–वर्णन को देखने से पता चलता है कि वह मेघदूत की अपेक्षा ऋतुसंहार के निकट है। यद्यपि मेघदूत और संदेशरासक दोनों विरहकाव्य हैं जबकि ऋतुसंहार संयोगकालीन ऋतुवर्णन, फिर भी संदेशरासक का प्रकृति–वर्णन मेघदूत की भाँति स्वच्छंद नहीं है। इसमें प्रकृति की झाँकी ऋतुवर्णन के अंतर्गत दिखायी गयी है। यहाँ परिवर्तित ऋतुओं में प्रकृति विरहजन्य दुःख की विविध छायाओं का अनुभव कराती है। प्रकृति की भूमिका पर नाना ऋतुओं में विरह का चित्र खींचना ही कवि को अभीष्ट है।"[13]

द्वितीय प्रक्रम में नायिका के विरह–वर्णन के क्रम में पथिक द्वारा जो संवाद–योजना की गयी है वही तृतीय प्रक्रम के ऋतुवर्णन की पृष्ठभूमि में है। नायिका अपने हृदय का विरह–जनित आवेग पथिक के समक्ष प्रस्तुत कर चुकी है और पथिक को भी अब जाने में विलम्ब हो रहा है। प्रिय–वियोग में नायिका की व्याकुल अवस्था वह देख रहा है और लगभग पूरी विरह–व्यथा सुन चुका है। ऐसे में किसी के भी मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि दुःखी व्यक्ति कितने दिनों से यह कष्ट झेलता आ रहा है ? पथिक भी चलते–चलते विरहिणी नायिका से ऐसा ही प्रश्न कर देता है –

पवघणरेहविणग्गय निम्मल फुरइकरू,
सरय रयणि पच्चक्खु झंरतउ अमियभरू।
तह चंदह जिणणत्थु पियह संजणिय–सुहु,
कइय लग्गि बिरहग्गि धूमि झंपियउ मुहु।।
बंककडक्खिहि तिक्खिहि मयणाकोयणिहिं,
भणु वट्टहि कइ दियहि झुरंतिहिं लोयणिहिं।
जालंधरिव सकोमलु अंगु सुसंतियह,
हंस सरिस सरलाइ गयहि लीलंतियह।।[14]

पथिक सहृदय है इसीलिए विलम्ब होने के बाद भी नायिका की पूरी विरह–कथा

को सुनता है। नायिका की दयनीय स्थिति और उसके अप्रतिम सौन्दर्य को लक्ष्य करके ही वह उपरोक्त प्रश्न पूछता है। पथिक के प्रश्न पूछने का तरीका भी सामान्य नहीं है बल्कि नायिका की स्थिति को पूरी तरह समझ लेने के पश्चात् सहानुभूतिपूर्वक ऐसा प्रश्न किया गया है। वह सीधे–सीधे यह नहीं पूछता कि तुम्हारा मुख कब से विरहाग्नि के धुएँ से आच्छादित है, बल्कि उसके पहले नायिका के मुख की उज्ज्वलता को स्पष्ट करता है। वह कहता है नवघन रेखा से निकलने वाले शरद ऋतु के अमृत वर्षा करने वाले और अपने निर्मल किरणों से प्रकाश फैलाने वाले चन्द्रमा को जीतने वाला तुम्हारा मुख, जिसे देखकर प्रिय सुख की प्राप्ति करते हैं; कब से विरह–अग्नि के धुएँ से धूमिल हो गया है। पथिक के इस प्रश्न में कवि ने मनोवैज्ञानिकता का जो पुट दिया है वह नायिका को आश्वस्त करने वाला है। ऐसे प्रश्नों से यह ध्वनित हो रहा है कि प्रश्नकर्त्ता सामने वाले की हर स्थिति से परिचित है और उसके विषय में और कुछ जानना चाहता है। जिससे व्यक्ति निश्चिंतता–पूर्वक अपने मन की बात खुलकर उससे कह सकता है। जाने की उतावली दिखाते हुए पथिक के समक्ष ऋतुपरिवर्तन के साथ–साथ अपनी विरहावस्था के पुनः विस्तृत वर्णन का यह अवकाश स्वयं पथिक के प्रश्न की मनोवैज्ञानिकता ने उपलब्ध करायी है।

कथा–संयोजन में अब्दुलरहमान ने कहीं भी अतिरेक नहीं दिखाया है। द्वितीय प्रक्रम तक जिस पथिक को अपने दुर्गम मार्ग की चिंता सता रही थी और बार–बार नायिका से जाने की उतावली कर रहा था। वही अब सम्पूर्ण ऋतुवर्णन को निश्चिंतता पूर्वक सुन रहा है। एक बार भी नायिका को नहीं टोकता है। इसकी संयोजना कवि ने बड़ी चतुराई से की है। पहला तो यह कि नायिका की बात सुनने में पथिक का मन रम गया है। दूसरा यह कि जब विलम्ब हो ही रहा है तो क्यूँ न पूरी बात सुनकर ही जाऊँ, अन्यथा ऋतुवर्णन तो कथा के मध्य में भी किया जा सकता था। द्वितीय–प्रक्रम में जहाँ स्थान–स्थान पर पथिक को बोलने का अवकाश दिया गया है वहीं तृतीय प्रक्रम में पथिक एकदम चुप (साइलेंट) है। इस चुप्पी का भी नायिका के मन पर पूरा प्रभाव पड़ा है और वह लगातार अपनी दशा को ऋतु वर्णन के क्रम में प्रस्तुत करती जाती है। पथिक का अंतिम कथन विरहिणी नायिका के एकालाप को पूरी स्वाभाविकता प्रदान कर रहा है –

इम दुक्खह तरलच्छि काँइ तणु अप्पियइ,
दुसहु विरहकरवत्तिहि अंगु करप्पियइ।
हरिसुयवाणखुरप्पिहि कई दिणु भणु पहउ,
भणु कई कालि पडुत्तउ सुन्दरि ! तुअ सुहउ।।[15]

पथिक पूछता है – तरल नेत्रों वाली तुम कबसे इस दुःख को सहन कर रही हो ? कब से तुमने दुःख के समक्ष अपने आपको अर्पित कर रखा है ? कब से ऐसे दुःसह विरह को सह रही हो, जो तुम्हारे अंगों को विरह रूपी आरे से चीर रहा है ? वह आगे पूछता है कि कब से कामदेव अपने तीक्ष्ण बाणों का प्रहार तुम पर कर रहे हैं ? तुम्हारे प्रियतम को गये हुए कितना समय बीत गया ? इन प्रश्नों को सुनते ही नायिका को प्रिय–वियोग के समय का स्मरण हो आता है। वह अत्यधिक दुःखी होती हुई पथिक से कहती है कि –

आएहि पहिय किं पुच्छिएण मह पियपवासदियहेण।
हरिऊण जत्थ सुक्खं लद्धं दुक्खाण पडिवट्टं।।
ता कहसु तेण किं सुमीरएण विच्छेयजालजलणेण।
जं गओ खणद्धमत्तो णामं मा तस्स दियहस्स।।[16]

उस दिन को क्यों पूछ रहे हो जिस दिन अपने सारे सुखों के बदले में मुझे दुःख का प्रतिफल मिला ? विरह की ज्वाला में जलाने वाले उस दिन को याद करने से क्या लाभ, जिस दिन क्षण भर में प्रियतम चला गया ? दुःख के इसी अतिरेक में नायिका उस दिन को उलाहना देती हुई कहती है –

मुक्काऽहं जत्थ पिए डज्झउ गिम्हानलेण सो गिम्हो।
मलयगिरिसोसणेण य सोसिज्जउ सोसिया जेण।।[17]

जिस समय में प्रिय मुझे छोड़ गये वह ग्रीष्म ग्रीष्माग्नि से जल जाये। जिस ग्रीष्म के द्वारा मैं शोषित की गयी उसी प्रकार वह भी मलयगिरि के समीर से सूख जाये। नायिका के इसी कथन के बाद ऋतुवर्णन शुरू होता है। जैसा कि नायिका ने पहले कह दिया है कि ग्रीष्म ऋतु में उसके प्रियतम ने प्रवास किया इसी आधार पर ग्रीष्म ऋतु के वर्णन से षड्ऋतु–वर्णन का प्रारम्भ होता है।

यहाँ प्रकृति वर्णन मुख्य रूप से नायिका के विरह को उद्दीप्त करने के लिए ही किया गया है। नायिका विरह के ताप के साथ ही साथ ग्रीष्म के ताप को भी सह पाने में असमर्थ है। शीतलता प्रदान करने वाले सारे पदार्थ असफल हो जाते हैं क्योंकि उनमें भी किसी न किसी कारण ताप का अंश विद्यमान है –

वियसावि य रवियरहि तविहि अरवियतवणि,
अमियमऔ विहु जणइ दाह विसजम्मगुणि।
दंसिउ दुसहु भुअंगि अंगि चंदणु तवइ,
खिवइ हारू हारूब्भवु कुसुम सरिच्छयइ।।[18]

विरह के संदर्भ में रीतिकालीन कवियों के यहाँ ऐसे ऊहात्मक वर्णन खूब हैं लेकिन संदेशरासक की नायिका का यह कथन ऊहात्मकता की श्रेणी में आते हुए भी अपने आप में विशिष्ट है। रीतिकालीन नायिकाओं के विरह ताप में समस्त बाह्य–वातावरण जलने लगता है। संदेश रासक की नायिका के ताप में बाह्य–जगत नहीं जल रहा है बल्कि उसमें स्वयं किसी न किसी कारण ताप का अंश विद्यमान है जो नायिका के विरह–ताप में वृद्धि कर रहा है। विरह में समस्त बाह्य वातावरण नायिका को दुःख पहुँचा रहा है चाहे वह मलयसमीर हो या फिर तप्त ज्वाला से पृथ्वी को तपाती सूर्य की किरणें। फलों के भार से झुके हुए आम्र–वृक्ष पर सुशोभित तोतों की पंक्तियाँ भी नायिका को दुःख पहुँचा रही हैं। ग्रीष्म के इस उद्दीपक रूप में ही कवि ने वातावरण निर्माण के रूप में भी प्रकृति का सुंदर वर्णन किया है –

जम जीहह जिम चंचलु णहयलु लहलहइ,
तडतडयडि घर तिडइ ण तेयह भरू सहइ।
अइउन्हउ वोमयलि पहंजणु जं वहइ,
तं झंखरू विरहिणिहि अंगु फरिसिउ दहइ।।[19]

यहाँ प्रकृति में व्याप्त ताप बहुत सशक्त ढंग से नायिका के विरह–ताप को अभिव्यंजित कर रहा है। व्योमतल में बहने वाली उष्ण हवा सामान्य मनुष्य को जला देती है तो जो व्यक्ति स्वयं तप्त है उस पर उसका कैसा प्रभाव पड़ता होगा ? सूर्य के ताप को न सह पाने के कारण तड़–तड़ करके पृथ्वी के चिटकने का चित्रण वास्तव में विरह–ताप में नायिका के हृदय के चिटकने की अभिव्यंजना है। ग्रीष्म ऋतु के ताप की विषमता को चन्दबरदाई इस रूप में व्यक्त करते हैं –

चलत पवन पावक समान परसत सु ताप मन।
सुकत सरोवर मचत कीच तलफंत मीन तन।।[20]

ग्रीष्म ऋतु के वर्णन के पश्चात् वर्षा ऋतु का वर्णन है। कवियों के प्रिय ऋतुओं में वर्षा ऋतु महत्त्वपूर्ण है। अब्दुलरहमान ने भी वर्षा का वर्णन ग्रीष्म आदि की अपेक्षा अधिकतम कर किया है। नायिका कहती है –

झंपवि तम बद्दलिण दसह दिसि छायउ अंबरू,
उन्नवियउ घुरहुरइ घोरू घणु किसणाडंबरू।
णहह मग्गि णहवल्लि तरल तडयडिवि तडक्कइ,
ददुर रडणु रउद्दु कुवि सहवि ण सक्कइ।

निवड निरंतर नीरहर दुद्धर धरधारोहभरू,
किम सहउ पहिय सिहरट्ठियइ दुसहउ कोइल रसइ सरू।।[21]

बादलों ने आकाश के दसों दिशाओं में अंधकार फैला दिया है। घोर गर्जना करते हुए घने काले मेघ पूरे आकाश में छा गये हैं। आसमान में बिजली तड़–तड़ की ध्वनि करती हुई तड़क रही है। मेंढकों के बोलने से उनके रौद्र स्वर सहन नहीं हो रहे हैं। आकाश में लगातार घुमड़ते हुए बादलों का क्रम ऐसा लगता है जैसे रूई के छोटे–छोटे पहलों का समूह हो या ऐसा जान पड़ता है मानों आकाश रूपी युद्ध क्षेत्र में बादल रूपी दुर्धर्ष भट युद्ध के लिए उतर रहे हैं। नायिका आगे कहती है, ऐसे समय में जब शिखर पर बैठी कोयल कूँकती है तो मैं उस दुःसह स्वर को कैसे सहन करूँ। वर्षा का ऐसा उद्दीपक रूप चन्दरबरदाई, विद्यापति, जायसी आदि कवियों के यहाँ भी मिलता है। वर्षा–वर्णन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है अब्दुलरहमान द्वारा कई स्तरों पर किया गया सामान्य जन–जीवन का चित्रण –

गिंभ तविण खर ताविय बहु किरणक्कुरिहिँ,
पउ पडंतु पुक्खरहु ण मावइपुक्खरिहिँ।
पयहत्थिण किय पहिय पहिहि पवंहतियहि,
पइ पइ पेसइ करलउ गयणि खिवंतयहि।।[23]

यह छंद भाषा और भाव दोनों स्तरों पर महत्त्वपूर्ण है। धारासार वर्षा के बाद सामान्य जन–जीवन के अस्त–व्यस्त होने का सुंदर दृश्य इस छंद में उपस्थित किया गया है। नायिका कह रही है ग्रीष्म ताप से और अधिक तपने वाली सूर्य की किरणों से बादलों से गिरते हुए पानी का संयोग होने के पश्चात जब वे पोखरियों में गिर रहे हैं तो उसमें समा नहीं पा रहे हैं बल्कि इधर–उधर बह रहे हैं। पोखरियों से बहता हुआ यह पानी रास्ते से जाने वाले पथिकों को उनका पैर हाथ में लेने को विवश कर रहे हैं। पथिक अपने जूतों को हाथ में लेकर चल रहे हैं। बादलों के कारण घना अंधकार है और इसमें पग–पग पर आसमान को जलाने वाली जो बिजली चमक रही है वह मार्ग दिखाती हुई सी प्रतीत हो रही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस छंद में उपस्थित श्लेष के प्रयोग द्वारा इसके तीन अन्य अर्थ भी निकाले हैं –

"कवि यहाँ कहना चाहता है कि इस वर्षाकाल में प्रेमियों की बड़ी दारुण अवस्था है। पैर पड़ते हुए बादलों को पोखरियाँ और झुका रही हैं या नहीं मान रही हैं। इसी प्रकार तीसरी पंक्ति से भी एक दूसरा अर्थ ध्वनित होता है। अर्थ यह है, रास्ते में

बहती हुई (निचली श्रेणी की स्त्रियाँ) पथिकों को पैर हाथ में लेने वाला बना रही हैं यानी पैर पड़वा रही हैं। चौथी पंक्ति का दूसरा ध्वनित अर्थ यह होगा – कर्बुर वर्ण का आकाश दुःख पाती हुई विरहिणियों के पति को (पइ) पैरों के पास (पइ) भेज रहा है।"[23]

एक ही छंद में चार–चार भावों को समेट लेना वह भी प्रकृति–वर्णन के संदर्भ में अब्दुलरहमान की अपनी विशेषता है। भाषा की ओट को हटाकर देखने पर चारो भाव एक के बाद एक नज़र आने लगते हैं। यही विशेषताएं संदेशरासक के प्रकृति वर्णन को नवीन अर्थवत्ता प्रदान करती हैं। वर्षा के ही संदर्भ में कवि ने प्रकृति के मानवीकरण रूप को भी प्रस्तुत किया है –

कद्दमलुल धवलंग विहाविह सज्झरिहि,
तडिनएवि पय भरिण अलक्ख सलज्जरिहि।
हुउ तारायणु अलखु वियंभिउ तम पसरु,
छन्नउ इन्दोएहि निरंतर धर सिहर।।[24]

यहाँ कवि ने पृथ्वी का चित्रण समागम के लिए तैयार नायिका से किया है। मेघ रूपी प्रिय के आने से पृथ्वी रूपी नायिका के विभिन्न हाव–भाव का सुंदर दृश्य यहाँ उपस्थित है। वर्षाकाल में पृथ्वी कर्दम में उसी प्रकार लिपटी हुई है जिस प्रकार चंदन से लिप्त धवलांगिनी नायिका। पृथ्वी वासक–सज्जा नायिका की भाँति विभिन्न प्रकार की झाड़ियों से सजी है। जलयुक्त मेघ द्वारा बिजली की हल्की झाँकी से न देखे जाने वाली लज्जावती वधू के समान दिख रही है, जिसकी तारे रूपी आँखें दृष्टिगत नहीं हो रही हैं। चारों ओर अँधेरे का प्रसार होने के कारण तारे नहीं दिखायी दे रहे हैं। बीर–बहूटियाँ पृथ्वी पर रेंग रही हैं तो ऐसा लग रहा है जैसे नायिका ने कुसुम्भी रंग का वस्त्र धारण कर लिया है। प्रिय मिलन की उत्कंठा से पृथ्वी रूपी नायिका सिहर रही है।

वर्षा ऋतु में जहाँ विभिन्न प्राकृतिक दृश्य विरहिणी के दुःख को बढ़ा रहे हैं वहीं रात भी उसके दुःख को बढ़ा रही है। रात को उलाहना देती हुई वह कहती है –

जामिणि जं वयणिज्ज तुअ तं तिहुयणि णहु माइ।
दुक्खिहि होइ चउग्गणी झिज्झइ सुहसंगाइ।।[25]

रात्रि की वंचनीयता तीनों लोकों में भी समा नहीं पाती है। दुख के दिनों में तो वह चौगुनी हो जाती है और सुख में क्षीण हो जाती है। वर्षा ऋतु का दिन–रात दोनों विरह के दुःख को बढ़ाने वाले हैं। इस छंद से एक दूसरा अर्थ भी ध्वनित हो रहा है कि दिन

में भी बादलों के कारण अँधेरा होने की वजह से नायिका को रात्रिकाल बढ़ा हुआ प्रतीत हो रहा है।

वर्षा ऋतु के बाद शरद का आगमन हो गया लेकिन नायिका का पति वापस नहीं आया। बादलों के जाने के पश्चात् आसमान में चाँद और तारे दिखायी देने लगे लेकिन विरहिणी का प्रिय वापस नहीं आया। शरद के आगमन से सरोवरों की शोभा बढ़ गई, नदियों के तट विहंगम पंक्तियों से शोभित हो गये, जल अब स्वच्छ हो गया और उसमें प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगा, हंस कमल–रस पी रहे हैं, सारस मधुर शब्द कर रहे हैं और हंस आ–जा रहे हैं। पूरी प्रकृति सुंदर दिखायी दे रही है लेकिन विरहिणी को कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है। वह सारसी को सम्बोधित करती हुई कहती है –

णिट्ठुर करुणु सद्दु मणमहि लव,
दड्ढा महिल हाइ गयमहिलव।
इम इक्किक्कह करुण भणंतह,
पहिय ण कुइ धीरवइ खणंतह।।[26]

अपने निष्ठुर और करुण शब्दों को अपने मन में ही लिए रहो। तुम्हारे ये शब्द सुनकर विरहिणियाँ उदास हो जाती हैं। वह एक–एक सारसी से यह बात कह रही है लेकिन कोई भी उसे क्षण भर के लिए भी धीरज नहीं बँधा रहा है।

अब्दुलरहमान ने वर्षा के समान ही शरद का भी विस्तृत वर्णन किया है। शरद ऋतु में भारत में विभिन्न उत्सव मनाने की प्रथा है। संदेशरासक के शरद वर्णन में भी उत्सवों के प्रति लोगों के उत्साह का सजीव चित्रण है। नायिका जहाँ प्रिय से परित्यक्त होने के कारण दुःखी है वहीं अन्य स्त्रियाँ पति के साथ होने के कारण विभिन्न उत्सवों में उत्साहपूर्वक भाग ले रही हैं। स्त्रियों के मन के उत्साह को देखकर नायिका के प्रियतम–वियोग का दुःख और अधिक बढ़ जाता है –

धूव दिंति गुरू भक्ति–सइत्तिहि,
गोआसणिहिँ तुरंग चलत्थिहि।
तं जोइवि हउँ णिय उव्विन्निय,
णेय सहिय मह इच्छा उन्निय।।[27]

नायिका कह रही है कि स्त्रियाँ बहुत भक्ति–भाव से गोशाला और तुरंगशाला में धूप दे रही हैं। उन्हें इस प्रकार देखकर मैं और अधिक उद्विग्न हो रही हूँ। स्त्रियों की इन क्रीड़ाओं को मैं सहन नहीं कर पा रही हूँ और मेरा मन प्रिय के प्रति और अधिक बढ़ता

जा रहा है। विरह–वर्णन में पर्वों–त्योहारों के महत्त्व को जायसी ने भी कई स्थलों पर उद्दीपक के रूप में प्रस्तुत किया है –

सखि झूमक गावै अंग मोरी। हौं झुरावँ बिछुरी मोरि जोरी।।[28]

शरद–वर्णन में मुख्य रूप से लोक में पर्वों के मनाने की विधियों और नायिका के ऊपर पड़ने वाले उसके प्रभाव का वर्णन है। शरदकालीन रात्रि में जहाँ सम्पूर्ण प्रकृति अपनी शोभा बिखेर रही है वहीं नायिका को वह यमराज के प्रहार के सदृश प्रतीत होती है –

ससिजुन्ह निसासु सुसोहिययं धवलं,
वरतुंग पयार मणोहरयं अमलं।
पियवज्जिय सिज्ज लुलंत पमुक्करए,
जमकुट्ट सरिच्छ विहावि हए सरए।।[29]

शरदकालीन चाँदनी धवलगृहों को और अधिक शोभा प्रदान कर रही है। ऊँचे प्राकारों को अमल मनोहर बना रही है। ऐसे समय में विरहिणी प्रिय से शून्य शय्या पर लेटी हुई इस शरद रजनी को यम के प्रहार के समान महसूस कर रही है। रात्रि में आधे प्रहर भी वह सो नहीं पाती है। प्रिय सम्बन्धी बातों की कल्पना करने पर भी उसे सुख नहीं मिलता। आधे निमेष भी उसे चैन नहीं मिलता। काम–संतप्त वह विदीर्ण हो गयी है –

णिसि पहरद्धु णेय णंदीयइ,
पिय कह जंपिरी उणंदीयइ।
रय णिमिसिद्धु अद्धु णंदीयइ,
बिद्धी कामतत्ति णं दीयइ।।[30]

उद्दीपन वर्णन में ही कवि ने प्रकृति और मानव मनोभाव का संयोग करके बहुत सुंदर छंद प्रस्तुत किया है –

कि तहि देसि णहु फुरइ जुन्ह णिसि णिम्मल चंदह,
अह कलरउ न कुणंति हंस फल सेवि रविंदह।
मह पायउ णहु पढ़इ कोइ सुललिय पुण राइण,
अह पंचमु णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण।
महमहइ अहव पच्चूसि णहु ओससित्तु घण कुसुमभरू,
अह मुणिउ पहिय ! अणरसिउ पिउ सरइ समइ जु न सरइ घरू।।[31]

एक ओर तो नायिका द्वारा प्रकृति के संयोगकालीन संवेदनात्मक रूप की सुंदर कल्पना है वहीं दूसरी ओर अपने प्रिय के अरसिक होकर विमुख हो जाने का भय है। दोनों भावों को कार्य–कारण रूप में जोड़ती हुई नायिका कहती है – क्या उस देश में रात्रिकाल में चन्द्रमा की निर्मल किरणों से चाँदनी का प्रसार नहीं होता ? क्या वहाँ कमलनाल को खाकर हंस सुंदर स्वर में नहीं बोलते ? क्या उस देश में कोई सुललित प्राकृत का पाठ नहीं करता या कोई मेरे कापालिक प्रिय के समक्ष पंचम स्वर में नहीं गाता ? क्या वहाँ ऊषाकाल में ओस में भींगा हुआ घनकुसुमभार नहीं महकता ? या फिर मैं यह समझ लूँ कि मेरा प्रिय ही अरसिक हो गया है जो इस शरद ऋतु में भी घर को याद नहीं करता है।

शरद के पश्चात् हेमन्त का वर्णन है। नायिका हेमन्त में भी कामदेव के बाणों से आहत होकर कष्ट पा रही है लेकिन प्रिय परदेश में ही कापालिक के समान घूमता रहा। हेमंत में तुषार के कारण धवलगृह श्वेत हो गये हैं। तुषारापात को संवेदनात्मक रूप देते हुए कवि ने प्रकृति के संवेदनात्मक रूप को भी प्रस्तुत किया है। विरह में जलती हुई नायिका हेमंत को अपने प्रति सहानुभूति रखने वाला समझती है। वह कहती है –

तह कंखिरी अणियत्ति णियंती दिसि पसरू,
लइ ढुक्कउ कोसिल्लि हिमंतु तुसार भरू।[32]

मुझे विरह–ज्वाला में जलती हुई बेचैन समझकर ही देखते–देखते हेमंत तुषार रूपी भेंट लेकर आ गया। हेमंत ऋतु में ठंड बढ़ जाने के कारण लोगों की दिनचर्या में जो परिवर्तन होता है उसका वर्णन कवि ने विस्तार से किया है। विशेष रूप से स्त्रियों के सौन्दर्य–प्रसाधन सम्बन्धी क्रिया–कलापों का। हेमंत में रात्रि लम्बी और दिन छोटा हो जाता है। इसी को लक्ष्य करके वह कहती है –

विलवंती अलहंत निंद निसि दीहरिहि।
पढ़िय वत्थु तह पंथिय इक्कल्लिय घरिहि।।[33]

दीर्घरात्रि में नींद न आने के कारण बिलखती हुई अकेली विरहिणी वस्तु का पाठ करती है। हेमंतकालीन दिन–रात्रि के इस प्रभाव को चंदबरदाई ने इस प्रकार प्रकट किया है –

दीरघ निसि दिस तुच्छ सीत संतावै अंगा।
अधर दसन धरहरै प्रात परजरै अनंगा।।[34]

हेमंत ऋतु का शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव को लक्ष्य करके नायिका कहती है –

अंगिहिँ तुह अलहंत धिट्ठ ! करयलफरिसु,
संसोसिउ तणु हिमिण हाम हेमह सरिसु।
हेमंति कंत ! बिलवंतियह, जइ पलुट्टि नासासिहसि,
तं तइय मुक्ख ! खल ! पाइ मइ मुइय विज्ज किं आविहसि।।[35]

प्रियतम की हथेलियों का स्पर्श न पाने के कारण शरीर हेमंत के प्रभाव से सूख गया है। हेमंत ने देह को वैसे ही सुखा दिया है जैसे धूप ठण्ड को सुखा देती है। प्रिय से दूर रहने के कारण हेमंत इतना कष्ट दे रहा है। आगे वह कहती है कि इस समय में कष्ट पाती हुई और विलाप करती हुई को आकर सम्बल नहीं दोगे तो क्या मेरे मर जाने के बाद आओगे ? हेमंत में प्रिय का वियोग मृत्यु के सदृश है।

अब शिशिर का भी आगमन हो गया है। आसमान में तेज और परूष हवा चल रही है और वृक्षों के पत्ते इस पतझड़ में झड़ गये हैं। शिशिर में प्रकृति–परिवर्तन के विविध दृश्यों को कवि ने उपस्थित किया है। बाह्य प्रकृति के साथ ही स्त्रियों के आन्तरिक प्रकृति परिवर्तन का जो प्रभाव है उसे भी कवि ने लक्ष्य किया है। शिशिर के भय से युवतियाँ अपने प्रिय को केलिगृह में छोड़कर स्वयं अग्निगृह में आ गयी हैं –

तरुणिहि कंत पमुक्किय णिय केलीहरिहि,
सिसिर भइण किउ जलणु सरणु अग्गीहरिहि।[36]

विभिन्न ऋतुओं की भाँति शिशिर में भी जन–जीवन की सामान्य झाँकी अब्दुलरहमान ने दिखायी है। इस ऋतु में नायिका द्वारा मनोदूत भेजने का वर्णन है। पति–संयोग में रहने वाली स्त्रियों के विविध क्रिया–कलापों को देखकर नायिका अपने मन रूपी दूत को प्रिय को बुलाने हेतु भेजती है, लेकिन वह दूत भी पति के ही पास रह जाता है –

मइ जाणिउ पिउ आणि मज्झ संतोसिहइ,
णहु मुणिअउ खलु धिट्ठ सोवि महु मिल्हिहइ।
पिउ णाविउ इहु दूउ गहिवि तत्थवि रहिउ,
सव्व हियउ महु दुक्खि भरिउ पूरिउ अहिउ।।[37]

एक तो शिशिर में प्रिय स्वयं नहीं आया दूसरे विरहिणी के मन को भी अपने ही पास रोक लिया। नायिका के हृदय में दुःख का भार और अधिक बढ़ गया। बढ़े हुए कष्ट

से व्याकुल होकर वह कहती है –

मइ घणु दुक्खु सहप्पि मुणवि मणु पेसिउ दूअउ,
णाहु ण आणिउ तेण सुपुणु तत्थव रय हूअउ।
एम भमंतह सुन्नहियय जं रयणि विहाणिय,
अणिरइ कीयइ कम्मि अवसु मणि पच्छुत्ताणिय।
मइ दिन्नु हियउ णहु पत्तु पिउ हुई उवम इहु कहु कवण, [38]

नायिका अत्यधिक दुःख की वजह से मन को दूत बनाकर भेजती है लेकिन वह भी वहीं रम गया। मनोदूत के भ्रम में ही उसने पूरी रात बिता दी। उसे लगा शायद अब मनोदूत प्रिय को लेकर आ जाये, लेकिन यह भ्रम ही रह गया। अपने इस अनिरूपित कार्य के लिए वह पश्चाताप भी कर रही है। उसके पश्चाताप में अपने और प्रिय दोनों के कार्य के प्रति उलाहना है। वह कहती है कि बताओ यह कैसी उपमा है ? इस वाक्य में पति के प्रति वही भाव ध्वनित हो रहा है जो घनआनंद के यहाँ इस रूप में वर्णित है –

घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तें दूसरी आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।[39]

स्वयं के प्रति विरहिणी की व्याकुलता उसी के अगले वाक्य में स्पष्ट हो जाती है। खच्चरी सींगों के लिए गई और कान भी गँवा आयी –

सिंगत्थि गइय वाडव्वणी पिक्ख हरावियं णिअसवण।।[40]

हेमंत और शिशिर के सामान्य वर्णन के बाद अब्दुलरहमान ने बसंत का थोड़ा विस्तृत वर्णन किया है। बसंत में जहाँ दसों दिशाओं में और व्यक्ति के तन–मन में सुख का विस्तार होने लगा वहीं वियोगी मदनाग्नि से और अधिक जलने लगे। विभिन्न प्रकार के फूल खिल रहे हैं। सरोवर रति विशेष से और अधिक शोभायमान हो रहे हैं –

णवकुसुमपत्त हुय विविहवेसि,
अइ रेहइ णवसर रइविसेसि।[41]

वृक्ष मधुमास–लक्ष्मी को अपने किसलय रूपी करों से प्रकट कर रहे हैं। भौंरा केतकी कली के रस लोभ में वन में रुनझुन करता हुआ घूम रहा है –

वाहिज्जइ नवकिसलयकरेहिं,
महुमास लच्छि णं तरूवरेहिं।

रुणझुण करेहि वणि भमरू छुद्ध,
केवयकलीहि रसगंधलुद्ध।।[42]

बसंत आगमन का यह वर्णन प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण के अंतर्गत आएगा। बसंत आगमन पर वनस्पति से लेकर जीव जगत तक में हर्ष और उल्लास व्याप्त हो जाता है। बसंत के इसी उल्लास को चित्रित करते हुए जयदेव ने लिखा है –

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुंजकुटीरे।।[43]

ऐसे सुंदर बसंत में भी नायिका का पति वापस नहीं आया। प्रिय के अभाव में इस सुंदर मधुमास को व्यतीत करना विरहिणी के लिए अत्यंत कठिन हो गया है। बाहर जितना अधिक उल्लास का वातावरण होगा विरहिणी का अंतर उतना ही अधिक उद्दीप्त होगा। संदेशरासक में बसंत के बाह्य वातावरण का जितना सुंदर और संश्लिष्ट चित्रण है उतना ही नायिका के हृदय की मार्मिक वेदना की भी अभिव्यक्ति है। वह कहती है कि बसंत में सब विविध कष्टों को सहते हुए अपने प्रिय से मिलने हेतु विचरण कर रहे हैं लेकिन एक मेरा प्रिय है जो मेरे स्नेह के लिए दुर्गम हो गया है। वह बिना किसी भय के व्यापार कर रहा है –

सहवि दुसहु दुत्तर विचरिज्जइ सब्भयं,
मह णेहह किवि दुग्गु वणिज्जइ णिब्भयं।।[44]

सभी सुखद दृश्य विरहिणी के लिए दुःख उत्पन्न कर रहे हैं। पलाश उसे प्रत्यक्ष पलाश (माँसाहारी) प्रतीत हो रहा है। अशोक अपने नाम के विपरीत आचरण कर रहा है। शीतल वायु ताप उत्पन्न कर रही है। मयूरों का हर्ष देखकर उसे कष्ट हो रहा है। उसके अंग विरह ज्वाला में जल रहे हैं और कामदेव ने उन्हें अपने वाणों से जर्जरित कर दिया है –

विरहग्गि झाल पज्जलिअ अंगि,
जज्जरियउ वाणिहिं तणु अणंगि।।[45]

प्रिय–वियोग में बसंत के इस वातावरण में वह यम के कालपाश का दुःसह दुख भोग रही है। दसो दिशाओं में सुंदर पुष्पों की शोभ बिखरी है। आम्र वृक्षों पर मंजरियों के माध्यम से बसंत आ गया है। कोयलें सुंदर राग को इस प्रकार उच्चरित कर रही हैं जैसे भरतमुनि के नियमों से निर्देशित हों। भौंरे मधुर ध्वनि कर रहे हैं –

णव कुसुमिहि सोहिउ दस दिसासु।
x x x x
णव मंजरि तत्थ बसंत हूय।।
तहि सिहरि सुरत्तय किसणकाय,
उच्चरहि भरहु जणु विविह भाय।
अइ मणहरू पत्तु मणोहरीउ,
उच्चरहिँ सरसु महुयर झुणीउ।।[46]

इस मनोहर ऋतु में विरहिणियाँ किसी प्रकार अपने प्राणों को धारण किये हुए हैं। विरह में बसंत अत्यधिक उद्दीप्त करने वाला है। विरह में बसंत के ऐसे ही प्रभाव को वर्णित करते हुए विद्यापति कहते हैं –

फुटल कुसुम नव कुंज कुटिर बन, कोकिल पंचम गावे रे।
मलयानिल हिमसिखर सिधारल, पिया निज देश न आबे रे।
चानन चान तन अधिक उतापए, उपवन अलि उतरोले रे।
समय बसंत कंत रहु दुर देस, जानल विधि प्रतिकूल रे।[47]

बसंत वर्णन में ही एक स्थल पर प्रकृति के उपदेशात्मक रूप का भी चित्रण किया गया है। प्रिय को उलाहना देती हुई और प्रेम की प्रगाढ़ता को स्पष्ट करती हुई नायिका कहती है कि –

विज्झंति परूप्पर तरू लिहंति,
कंटग्ग तिक्ख ते णहु गणंति।
तणु दिज्जइ रसियह रसह लोहि,
णहु पाउ गणिज्जइ पिम्ममोहि।।[48]

भौंरे मधुपान करने के लिए काँटों की परवाह नहीं करते। परस्पर मिले हुए काँटों से वे बिंध जाते हैं फिर भी मधुपान करते हैं। रसिक लोग रस की प्राप्ति के लिए अपना शरीर भी दे देते हैं। उसी प्रकार प्रेम में भी अनुचित कार्यों की परवाह नहीं करनी चाहिए। प्रेम में अपनी देह को भी समर्पित कर देना चाहिए।

संदेशरासक का षड्ऋतु वर्णन मुख्यतः उद्दीपक होने के बावजूद प्रकृति के विविध रूपों को समाहित किए हुए है। रचनाकार का मुख्य उद्देश्य नायिका के विरह को विस्तार देना था न कि स्वतंत्र रूप से प्रकृति का चित्रण करना। रचनाकार ने अपने

उद्देश्य के अनुरूप ही प्रकृति का प्रयोग किया है। मध्यकालीन संस्कृत और हिंदी कविता की ऋतुवर्णन वाली रूढ़ पद्धति से अब्दुलरहमान बाहर नहीं निकल पाये। लेकिन उन्हीं बाह्य वस्तु और व्यापारों के आधार पर उन्होंने विरहिणी की आंतरिक वेदना को सुंदर रूप में अभिव्यंजित किया है। इस संदर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है –

"बाह्य वस्तु और व्यापारों के आगे न तो रासो का कवि गया है, न अद्दहमाण ही। फिर भी जायसी की भाँति अद्दहमाण के सादृश्यमूलक अलंकार और बाह्यवस्तु–निरूपक वर्णन बाह्यवस्तु की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरह–कातर मनुष्य के (चाहे वह स्त्री हो या पुरुष) मर्मस्थल की पीड़ा को अधिक व्यक्त करता है।"[49]

3.3 बीसलदेव रास में प्रकृति

'बीसलदेव रास' में प्रकृति–वर्णन बारहमासा के रूप में हुआ है। बीसलदेव के उड़ीसा चले जाने के बाद राजमती के विरह–वर्णन के लिए बारहमासा पद्धति अपनायी गयी है। यहाँ बारहमासा में प्रकृति का बहुत संक्षिप्त चित्रण है। बीसलदेव रास जैसी संक्षिप्त रचना में प्रकृति–वर्णन का अधिक अवकाश भी नहीं था। बारहो महीने में बदलती हुई प्रकृति और राजमती पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन ही रचनाकार को इष्ट है। लोककथा के शिल्प में निर्मित इस रचना में अन्य वर्णन लगभग गौण हैं, मुख्य है राजमती का विरह और बीसलदेव के पास उसका संदेश–प्रेषण। इन दोनों बिन्दुओं को केन्द्र में रखकर पूरी रचना का ताना–बाना बुना गया है। इसीलिए इसमें वर्णनात्मकता का लगभग अभाव सा है। कुछ वर्णन उसी सीमित परिप्रेक्ष्य में आये हैं जहाँ तक वे उपर्युक्त दोनों भावों के उत्कर्ष में सहायक हैं। उनसे स्वतंत्र किसी भी प्रकार का कोई वर्णन नहीं है। बीसलदेव रास का प्रकृति–वर्णन भी विरह को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए ही आया है।

बीसलदेव रास में बारहमासा कार्तिक से शुरू हुआ है। राजमती कहती है –

चलियउ उलगाणउ कातिग मास।
छोडीया मंदिर घर कविलास।
छोडीया चउबारा चउषंडी।
तठइ पंथि सिरि नयण गमाइया रोइ।
भूष गई त्रिस ऊचटी।
कहि न सषीय नींद किसी परि होइ।।[50]

बीसलदेव कार्तिक मास में परदेश गया। राजमती कहती है कि वह मंदिर और शयनगृह को छोड़कर चला गया। अपने चौपाल और चारखंडों वाले राजभवन को भी उसने छोड़ दिया। जब से वह गया है तब से मैं उसके रास्ते पर अपना सिर नवाँ–नवाँ कर रो रही हूँ। रोते–रोते मैंने अपने नेत्र गवाँ दिए। मेरी भूख खत्म हो गयी और तृषा उचट गयी। हे सखी ! तुम्हीं बताओ अब मुझे नींद किस प्रकार आयेगी ?

बीसलदेवरास के पूरे बारहमासा वर्णन में लगभग इसी प्रकार का वर्णन है। समय को आगे बढ़ा हुआ दिखाने के लिए रचनाकार महीनों का नाम क्रम से गिनाता चलता है। कहीं–कहीं मास विशेष की मुख्य विशेषता को लक्ष्य करके एक दो वाक्य प्रकृति के सम्बन्ध में भी कह दिया गया है। परन्तु, कहीं भी प्रकृति का कोई संश्लिष्ट चित्र नहीं मिलता सिर्फ राजमती के विरह–विदग्ध कथनों की ही प्रमुखता बाहरमासा वर्णन में है। मार्गशीष में परदेश के मार्ग की दुर्गमता और संदेशों को उलाहना देती हुई वह कहती है –

मगसिरियइ दिन छोटा जी होइ।
सषीय संदेसउ न पाठवइ कोइ।
संदेसइ ही बज पड्यउ।
ऊँचा हो परबत नीचा घाट।
परदेसे पर गयउ।
तठइ चीरीय न आवइ न चालए बाट।।[51]

मार्गशीर्ष में दिन छोटा होने लगा है। मेरा पति कोई संदेश नहीं भेजता है। संदेशों पर ही जैसे वज्रपात हो गया हो। मेरा पति परदेश गया है। वहाँ के मार्ग में ऊँचे–ऊँचे पर्वत और उन पर्वतों की नीची घाटियाँ हैं। इसलिए न तो वहाँ कोई जाता ही है और न ही वहाँ से कोई चिट्ठी ही आती है। इस छंद में भी मार्गशीर्ष के नाम के साथ सिर्फ उस समय में दिन छोटा होने की विशेषता को लक्ष्य करके राजमती की चिट्ठी और संदेश सम्बन्धी उलाहना और चिंता को ही वर्णित किया गया है। राजमती के इस कथन में उलाहना कम चिंता का भाव अधिक है और उसका कारण है मार्ग की दुर्गमता का बोध। सूरदास के भ्रमरगीत में भी संदेश से संबंधित इसी प्रकार का एक पद है लेकिन उसमें गोपियों का कृष्ण के प्रति उपालम्भ प्रमुख है –

सँदेसनि मधुबन कूप भरे।
जो कोउ पथिक गए हैं हयाँ ते फिरि नहिं अवन करे।।
कै वै स्याम सिखाय समोधे कै वै बीच मरे ?[52]

राजमती को जहाँ चिंता है कि परेदश के मार्ग पर कोई जाता नहीं है वहीं गोपियों का संदेश लेकर तो लोग जाते हैं लेकिन आते नहीं हैं। राजमती के अनुसार संदेशों पर ही मानों वज्रपात हो गया है वहीं गोपियों का कहना है कि संदेशों से मधुबन के कूप भर गये हैं।

परभूमि के मार्ग की दुर्गमता के विषय में सोचते–सोचते पौष लग गया। पौष में राजमती की शारीरिक दशा और क्षीण हो गयी है –

देषि सषी हिव लागउ छइ पोस।
घण मरतीय को मत दीयउ दोस।
दुषि दाधी पंजर हुई।
धान न भावए तज्या सिरि न्हाण।
छांहडी धूप नू आलगइ।
देषतां मंदिर हुयउ मसांण।।[53]

पौष में भी बाह्य–प्रकृति का वर्णन न करके रचनाकार ने राजमती के आंतरिक दशा को ही चित्रित किया है। वह कहती है कि अब पौष लग गया है। मुझ मरती हुई स्त्री को कोई दोष मत देना। प्रिय–वियोग में यदि मैं मर जाऊँ तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं है। विरह के दुःख में दग्ध होती हुई मैं पंजर मात्र हो गयी हूँ। न तो मुझे खाने में अन्न अच्छा लगता है और न ही मैं सिर का स्नान ही करती हूँ। राजमती की शारीरिक चेतना धीरे–धीरे लुप्त होती जा रही है। वह न तो छाँह महसूस करती है और न ही धूप। पूरा का पूरा राजभवन उसे श्मशान के समान लगता है। जायसी ने नागमती के वियोग में पौष महीने का वर्णन करते हुए लिखा है –

पूस जाड़ थरथर तन काँपा। सुरुज जड़ाइ लंक दिसि तापा।।
बिरह बाढ़ि भा दारुन सीऊ। कँपि कँपि मरौं लेहि हरि जीऊ।।[54]

नागमती की चेतना बची हुई है। वह पौष में अत्यधिक ठंड महसूस कर रही है, लेकिन विरह ने उसकी भी वही स्थिति कर दी है जो राजमती की है –

रकत ढरा माँसू गरा हाड़ भए सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुइ आइ समेटहु पंख।।[55]

माघ की शीत राजमती के लिए और कष्टकर हो गयी है। इस छंद में नायिका की आंतरिक दशा का साम्य बाह्य–प्रकृति से करते हुए नरपति नाल्ह ने लिखा है –

माह मासइ सीय पडइ ठंठार।
दाध छइ बनषंड कीधा छइ छार।
आप दहंती जग दह्यउ।
म्हाकी चोलीय माहि थी दाधउ गात्र।
धणीय विहूणी धण ताकिजइ।
तूंतउ उवइगउरे आविज्यो करइ पलाणि।
जोबन छत्र उमाहियउ।
म्हाकी कनक काया माहे फेरली आंण।।[56]

माघ मास की शीत से वनखंड सूख गया है। शीत की वजह से सूखा हुआ वनखंड राजमती को अपने ही समान दग्ध प्रतीत हो रहा है। वह कहती है कि शीत से वन जलकर क्षार हो गया है। विरह में दिन–रात जलने के कारण पूरी बाह्य–प्रकृति उसे जली हुई लग रही है। इतनी शीत में भी वह विरह–ज्वाल की आँच में तप रही है। चोली के भीतर भी उसका शरीर जल गया है। हृदय में विरह की जो वेदना है वह निरंतर कष्ट दे रही है। राजमती की ऐसी स्थिति पति के न होने से हो गयी है, इसीलिए वह प्रियतम को पुकार रही है। वह कहती है कि तुम शीघ्र ही चले आओ। मेरे यौवन का छत्र उमड़ पड़ा है आकर के मेरी कनक समान काया में प्राण फेर दो। राजमती अपने अंतर की जलन के कारण बाह्य वातावरण को दग्ध महसूस करती है और बाह्य–प्रकृति के परिवर्तन को अपने अंतर में महसूस कर रही है। इसी कारण वह कहती है कि यौवन का छत्र उमड़ पड़ा है। बाह्य–प्रकृति में माघ में शीत के साथ ही साथ रस का संचार भी प्रारम्भ हो जाता है। विरह में जलने के बाद भी राजमती प्रकृति के इस रस संचार को अपने भीतर महसूस कर रही है। इसी रस संचार के विषय में जायसी की नागमती भी कहती है –

एहि मास उपजै रस मूलू। तूँ सो भँवर मोर जोबन फूलू।।
नैन चुवहिं जस माँहुट नीरू। तेहि जल अंग लाग सर चीरू।।[57]

माघ की शीत में दग्ध होने के बाद फाल्गुन में बाह्य प्रकृति का रूप बदल गया है। अब वातावरण में उल्लास छा गया है। माघ में जिस रस का उद्रेक वनस्पतियों में हुआ था अब वह अपनी पूर्णता को प्राप्त कर रहे हैं। ऐसे सुंदर समय में भी बीसलदेव नहीं आया और राजमती उसी प्रकार विरह–दग्ध हो रही है –

फागुन फरहर्या कंपिया रूष।
चितइ चकमियंउ निसि नीद न भूष।

दिन रायां रितु पालटी।
म्हाकउ मूरष राउ न देषइ आइ।
जीवउं तउ जोबन सही।
फरहरइ चिहुं दिसि बाजइ छइ बाइ।।[58]

राजमती कहती है अब दिन सुंदर होने लगे हैं। ऋतु बदल गयी है। अपने विरह–वेदना की कितनी तीव्र व्यंजना राजमती के इस कथन में है। ऋतु तो पलट गयी लेकिन राजमती की स्थिति जस की तस है। शीत से ठूंठ पड़ी हुई प्रकृति में फाल्गुन ने आकर उल्लास का संचार कर दिया लेकिन राजमती का मूर्ख पति अभी तक नहीं आया। सखी को सम्बोधित करके वह कहती है – यौवन का सुख भी तो तभी मिलेगा जब मैं जीवित रह जाऊँगी। मूर्ख राजा मुझे आकर देख नहीं रहा है। विरह में जलते–जलते वह मृत्यु के समीप होती जा रही है। फाल्गुन में जब हवा तेज गति से वृक्षों आदि के बीच से गुजरती है तो वृक्ष काँपने लगते हैं और उनसे हवा के चलने की आवाज आती है। राजमती वायु की इस ध्वनि से मन ही मन चौंक जाती है। प्रिय के प्रति ध्यानस्थ युवती का सुंदर बिम्ब इस छंद में उभर रहा है। जो किसी भी प्रकार की हल्की ध्वनि से चौंक जाती है। अभी फाल्गुन में राजमती अपने अंतर और बाह्य प्रकृति के वैषम्य को देखकर दुखी थी ही तब तक होली का भी त्योहार आ गया। चैत्र लगते ही स्त्रियाँ रंग–बिरंगे वस्त्रों से सजी हुई चौरंगी हो गयी हैं। लेकिन राजमती वियोग–व्यथा में ही डूबी हुई है –

चेत्र मासइ चतुरंगी हे नारि।
प्रीय विण जीविजइ किसइ अधारि।
कंचूयउ भीजइ जण हसइ।
सात सहेलीय बइठी छइ आइ।
x x x
चालउ सषी आपे षेलण जाइ।
आज दिसइ स काल्हे नहीं।
म्हे किउं होली हे षेलण जांह।
उलगाणइ की गोरडी।
म्हाकी आंगुली काढतां निगलीजइ बांह।।[59]

राजमती कहती है बाहर चारों ओर हर्ष–उल्लास का वातावरण है। ऐसे समय में प्रिय–परित्यक्ता मैं, किसके सहारे जीवित रहूँ। सब हँस रहे हैं लेकिन रोते–रोते मेरी कंचुकी भींग जा रही है। उसकी सहेलियाँ आकर होली खेलने का आग्रह कर रही हैं। वे

कह रही हैं हे सखी। जल्दी चलो क्योंकि आज जो कुछ दिख रहा है वह कल नहीं रहेगा। काल परिवर्तन की कितनी सटीक व्यंजना है। ऐसी ही व्यंजना जायसी ने पद्मावती और उसकी सखियों के सन्दर्भ में की है –

जौ लहि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जौं खेलहु आजू।।
पुनि सासुर हम गौनब काली। कित हम कित एह सरवर पाली।।[60]

ऐसी ही व्यंजना राजमती की सखियों के इस कथन में मिलती है कि कल क्या पता हम कहाँ रहेंगी इसीलिए आज ही हमारे साथ खेल लो। राजमती को एक तो प्रिय–वियोग का दुःख है और अब दूसरा दुःख यह हो गया है कि अब वह चाकर की स्त्री हो गयी है। पद्मावती की सहेलियाँ अभिधार्थ में जिस समय की आशंक व्यक्त कर रही हैं वह समय राजमती पर घटित हो रहा है। पिता भोजराज के घर से तो वह राजकुमारी से रानी बनकर आयी थी लेकिन पति ने चाकरी करने के लिए उड़ीसा प्रवास कर उसे चाकर की स्त्री बना दिया है। ससुराल में तो वह पति द्वारा छोड़ दी गयी चाकर की स्त्री मात्र है। उसका यह दुःख उसके कथन से पूरी तरह व्यंजित हो रहा है कि मैं होली खेलने किस प्रकार जाऊँ ? मैं तो चाकर की स्त्री हूँ। तुम लोग क्यूँ ऊँगली पकड़–पकड़ कर बाँह खींच रही हो।

राजमती के इस कथन से एक अन्य बात भी व्यंजित हो रही है कि तत्कालीन समाज में तीज–त्योहार के उल्लास का आधार भी सामाजिक प्रतिष्ठा थी। देखते ही देखते वैशाख भी आ गया। वैशाख में फसल काटी जा रही है। पानी शीतल हो गया है और पान पक गये हैं –

वइसाषइ धुर लूणिजइ धान।
सीला पाणी अरू पाका जी पान।
कनक काया घट सींचिजइ।
म्हाकउ मूरष राउ न जाणइ सार।
हाथ लगामी ताजणउ।
ऊभउ सेवइ राज दुआरि।।[61]

ऋतु परिवर्तन के संदर्भ में रचनाकार ने कितनी सामान्य किन्तु सूक्ष्म वस्तु को यहाँ लक्ष्य किया है। जाड़े की शुरुआत में जल गरम होने लगता है और ग्रीष्म के प्रारम्भ में शीतल। राजमती कहती है कि लोग ऐसे समय में वृक्षों को जल के घड़ों से सींचते हैं लेकिन मेरे पति ने मुझे ऐसे ही मुरझाने के लिए छोड़ दिया है। मेरे मूर्ख पति के लिए

कनक समान मेरी काया का कोई मोल नहीं है। वह हाथ में घोड़े की लगाम और चाबुक लेकर राज–द्वार पर सेवा कर रहा होगा। जिस समय में वृक्षों को भी बाह्य–जल की आवश्यकता पड़ती है ऐसी विषम परिस्थिति में विरह–विदग्धा राजमती को अपने पति की स्नेह–दृष्टि की कितनी चाह होती होगी। प्रिय को लक्ष्य कर कहे गये कटु–वचन उसी चाह की पूर्ति न होने के बाद उत्पन्न खीझ के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। इस विषम ऋतु में विद्यापति की नायिका भी खीझती है, लेकिन उसका उपालम्भ स्वयं के प्रति है। वह स्वयं को अभागिन और पापिन समझ रही है –

वैसाखे तवे खर मरन समान।
कामिनि कन्त हनए पँचबान।।
न जुड़ि छाहरि न वरिस वारि।
हम जे अभागिनि पापिन नारि।।[62]

प्रकृति की यह विषमता निरंतर बढ़ती जा रही है। वैशाख के बाद ज्येष्ठ आ गया। दिन अत्यधिक तप्त होने लगे हैं। ज्येष्ठ में राजमती जेठानी को सम्बोधित कर रही है क्योंकि सखियों की भूमिका चैत्र में ही पूरी हो गयी थी। दूसरी बात यह कि इस विषम ऋतु में सब अपने–अपने घर में हैं। राजमती के आस–पास घर का ही कोई सदस्य होगा। तीसरे समय बढ़ने के साथ ही साथ विरह–वर्णन में प्रगाढ़ता भी बढ़ती जा रही है। वातावरण–निर्माण के रूप में इस महीने का चित्रण करते हुए कवि कहता है –

देषि जेठाणी हिव लागउ छइ जेठ।
मुह कुमलाणा नइ सूक गया होठ।
मास दिहाडउ दारुण तवइ।
धण कउ हे धरणि न लागए पाउ।
अनल जलइ धण परजलइ।
हंस सरोवर मेल्हिउ ठांह।।[63]

राजमती कहती है – जलविहीन होने के कारण हंस भी सरोवरों को छोड़ कर चले गये लेकिन बीसलदेव इस समय भी वापस नहीं आया। इस तपते हुए दिन में लोगों के मुख कुम्हला गये हैं। होंठ सूख गये हैं। धरती पर मानो आग जल रही हो। मेरे पैर धरती पर नहीं पड़ रहे हैं। धरती पर प्रज्ज्वलित इस अग्नि में मैं जल रही हूँ।

ज्येष्ठ की अग्नि में राजमती जल ही रही थी कि तब तक आषाढ़ में मेघ आसमान में लौट आये। ऐसे समय में भी राजमती का स्वामी वापस नहीं आया –

आसाढइ धुरि बाहुडया मेह।
षलहल्या षाल नइ बहि गइ षेह।
जइ रि आसाढ न आवई।
माता रे मइगल जेउं पग देइ।
सद मतवाला जिम दुलइ।
तिहि धरि ऊलग काइं करेइ।।[64]

आषाढ़ का मेघ राजमती को मदोन्मत्त हाथी सदृश लग रहा है। कालिदास के यक्ष को भी वह ऐसा ही लगा था। गज की तरह मदोन्मत्त मेघ आकाश में पैर रखते ही ढुलक जा रहा है। आसमान से वर्षा के बूँदों के ढुलकने का कितना सुंदर चित्र बन रहा है। आसमान में बादल आ रहे हैं और सद्यः ही वर्षा के रूप में ढुलक कर पृथ्वी पर आ जा रहे हैं। मेघों के पृथ्वी पर लुढ़कने के बाद नाले खल–भल करके बहने लगे हैं। नालों के इस प्रकार बहने से उसी प्रकार का चित्र उपस्थित हो रहा है जैसा, तुलसीदास के यहाँ है –

छुद्र नदी भरि चलीं तोराई। जस थोरेहुँ धन खल इतराई।
भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी।।[65]

राजमती सोच रही है जब पूरी प्रकृति इस प्रकार से उन्मत्त हुई है, ऐसे समय में उसका पति दूर देश में क्या कर रहा होगा। बीसलदेव रास का यह छंद चित्रात्मक रूप में प्रकृति–वर्णन का सर्वश्रेष्ठ छंद है। आषाढ़ में मतवाला मेघ उन्मत्त होकर लुढ़क रहा था लेकिन सावन में वही रिमझिम वर्षा कर रहा है। इस समय की रिमझिम वर्षा के समस्त कार्य–कलाप राजमती को उद्दीप्त कर रहे हैं –

स्रावण बरसइ छइ छोटीय धार।
प्रीय विण जीविजइ किसइ अधारि।
सही समाणी षेलइ काजली।
तठइ चिडय कमेडीय मंडिया आस।
बाबहियउ प्रीय प्रीय करइ।
मोनइ अणष लावइ हो स्रावण मास।।[66]

सावन में कपोती ने प्रिय मिलन की आस लगा रखी है। पपीहा भी पिउ–पिउ कर रहा है। सखियाँ और राजमती की समवयस्काएँ कजली खेल रही हैं। सावन में सब सुखी हैं। सबके मन में आशा का संचार हो रहा है, लेकिन राजमती को तो प्रिय–मिलन

की आस भी टूट गयी है। वह अब किसके सहारे जीवित रहे। सावन में सबके सुख को देखकर उसके मन का रोष और अधिक बढ़ता जा रहा है। राजमती के ही सदृश जायसी की नागमती भी सावन में सखियों के सुख से और अधिक उद्दीप्त हो रही है –

सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियर भुइँ कुसुंभि तन चोला।।
हिय हिंडोल जस डोलै मोरा। बिरह झुलाव देइ झँकोरा।।[67]

भादों में पुनः घनघोर वर्षा होने लगी है। पृथ्वी पर चारों ओर जल ही जल दिखाई दे रहा है। ऐसा लगता है जैसे सागर ही उलट गया हो –

भाद्रवइ बरसइ छइ गुहरि गंभीर।
जल थल महीयल सहु भर्‌या नीर।
जांणि कि सायर ऊलट्यउ।
निसि अंधारीय बीज षिवाइ।
बादल धरती स्यउं मिल्या।
मूरष राउ न देषइ जी आइ।
हूँ ती गोसामी नइ एकली।
दुई दुष नाह किउं सहणा जाइ।।[68]

घनघोर वर्षा की रात्रि अंधकारपूर्ण होती है। बीच–बीच में बादलों में से बिजली चमक उठती है। ऐसी तीव्र वर्षा में ऐसा लग रहा है मानों जल के भार के कारण बादल स्वयं पृथ्वी पर उतर आये हैं। इसी कारण बादल पृथ्वी से मिला हुआ दिखाई दे रहा है। राजमती कहती है – ऐसे समय में भी मेरा पति मेरी दशा को नहीं समझ रहा है। एक तो मैं स्त्री हूँ और दूसरे अकेली हूँ। इन दोनों दुखों को मैं एक साथ कैसे सहन करूँ ? अकेलेपन के इसी दुःख को विनयचंद्र सूरि ने राजुल देवी के संदर्भ में लगभग इन्हीं शब्दों में कहा है –

भाद्रवि भरिया सर पिक्खेवि। सकरूण रोअइ राजल देवि।
हा एकलडी भइ निरधार। किम उवेषिसि करुणासार।।[69]

राजुल भादों के इस धारासार वर्षा में स्वयं को निराधार महसूस कर रही है। वह कहती है कि इस समय में उसे नेमि के अतिरिक्त और कौन उबार सकता है ?

राजमती के इसी प्रकार तड़पते हुए ग्यारह महीने बीत गये। अब आश्विन मास आ गया। आश्विन में उसने आशा लगा रखी है कि क्या पता साल पूरा होते–होते प्रियतम

आ जाए –

आसोजइ धण मंडिया आस।
मांडिया मंदिर घर कविलास।
धउलिया चउबारा चउषंडी।
साधण धउलिया पउलि पगार।
गउष चडी हरषी फिरइ।
जउ घर आविस्यइ मुंध भरतार।।[70]

प्रिय आगमन की आस में ही उसने राजमहल और शयनगृह को सजाया। चौपाल और चार खंड वाले राजभवन की सफेदी कराई। गवाक्षों से वह हर्षित होकर इधर–उधर देख रही थी कि क्या पता उसका मुग्ध पति घर वापस आ जाए। विद्यापति की नायिका भी आश्विन मास में इसी प्रकार की आस लगाये हुए है –

आसिन मास आस धर चीत।
नाह निकारुन नै भेलाह होत।।
सरवर खेलए चकवा हास।
विरहिनि वैरि भेल आसिन मास।।[71]

राजमती के लिए भी आश्विन मास बैरी ही बना रहता है क्योंकि अब भी उसका पति वापस नहीं आया।

बीसलदेव रास में प्रकृति का कहीं भी किसी प्रकार का स्वतंत्र वर्णन नहीं है। बारहमासा में भी प्रकृति एक–दो छंदों को छोड़कर कहीं पर अपने पूरे रूप में सामने नहीं आयी है। एक तो संक्षिप्त रचना होने के कारण प्रकृति वर्णन का कहीं कोई अवकाश नहीं था दूसरे बीसलदेवरास की रचना शैली भी इसके लिए उत्तरदायी है। लोककथा के शिल्प में गाए जाने के लिए रचित होने के कारण इस रचना के प्रकृति वर्णन में भी राजमती का विरह ही प्रमुखता से उभर कर सामने आया है न कि कोई प्राकृतिक दृश्य।

संदर्भ

1. चिंतामणि, भाग–1, पृ. 88
2. रामायण, अयोध्या कांड, 95/3/8, पृ. 433
3. शिशुपालवधम्, 4/17, पृ. 218
4. ऋतुसंहारम्, 2/27, पृ. 30
5. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, पृ. 188
6. चिंतामणि, भाग–2, पृ. 16
7. काव्यमीमांसा, पृ. 262
8. चिंतामणि, भाग–2, पृ. 19
9. आदिकालीन हिंदी साहित्य, पृ. 81
10. विद्यापति पदावली, पृ. 279
11. चिंतामणि, भाग–2, पृ. 20
12. प्रकृति और काव्य, पृ. 219
13. संदेशरासक, पृ. 122
14. वही, पृ. 171
15. वही, पृ. 171
16. वही, पृ. 172
17. वही, पृ. 172
18. वही, पृ. 174–175
19. वही, पृ. 173
20. पृथ्वीराजरासो, पृ. 104
21. संदेशरासक, पृ. 178
22. वही, पृ. 176
23. वही, पृ. 50
24. वही, पृ. 176
25. वही, पृ. 179
26. वही, पृ. 181
27. वही, पृ. 182
28. पद्मावत, पृ. 305
29. संदेशरासक, पृ. 183
30. वही, पृ. 185
31. वही, पृ. 185–186
32. वही, पृ. 186
33. वही, पृ. 187
34. पृथ्वीराजरासो, पृ. 110
35. संदेशरासक, पृ. 187–188
36. वही, पृ. 188

37. संदेशरासक, पृ. 189
38. वही, पृ. 189–190
39. घनानंद कवित्त, पृ. 241
40. संदेशरासक, पृ. 190
41. वही, पृ. 190
42. वही, पृ. 191
43. गीतगोविंद, 1/3/2
44. संदेशरासक, पृ. 192
45. वही, पृ. 193
46. वही, पृ. 193–194
47. विद्यापति पदावली, पृ. 281
48. संदेशरासक, पृ. 191
49. हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ. 127
50. बीसलदेवरास, पृ. 149
51. वही, पृ. 149–150
52. भ्रमरगीतसार, पृ. 78
53. बीसलदेवरास, पृ. 150–151
54. पद्मावत, पृ. 306
55. वही, पृ. 306
56. बीसलदेवरास, पृ. 151–152
57. पद्मावत, पृ. 306
58. बीसलदेवरास, पृ. 152–153
59. वही, पृ. 153–154
60. पद्मावत, पृ. 187
61. बीसलदेवरास, पृ. 155
62. विद्यापति पदावली, पृ. 280
63. बीसलदेवरास, पृ. 155–156
64. वही, पृ. 157–158
65. रामचरितमानस, 4/13/5–6, पृ. 450
66. बीसलदेवरास, पृ. 158
67. पद्मावत, पृ. 304
68. बीसलदेवरास, पृ. 159
69. नेमिनाथ चउपई, छंद संख्या 5, (आदिकालीन हिन्दी साहित्य, पृ. 82)
70. बीसलदेवरास, पृ. 160
71. विद्यापति पदावली, पृ. 279

चतुर्थ अध्याय

संदेशरासक और बीसलदेवरास के विरह–वर्णन में साम्य और वैषम्य

4.1 कथावस्तु

4.2 वर्णन प्रणाली

4.3 प्रभाव

4.1 कथावस्तु

संदेशरासक और बीसलदेवरास दोनों ही खण्डकाव्यात्मक रचनाएं हैं। दोनों रचनाओं की कथावस्तु में संदेश–कथन और विरह–वर्णन की प्रमुखता है। दोनों रचनाओं की नायिकाओं का विरह प्रवासहेतुक है। संदेशरासक की नायिका का पति व्यापार के लिए खम्भात गया है और बीसलदेवरास की नायिका राजमती का पति उससे रूठकर चाकरी करने उड़ीसा गया है। दोनों रचानाओं के विरह और संदेश प्रधान होने के बावजूद इनके कथानक का ढाँचा एक दूसरे से बिल्कुल अलग है। संदेशरासक में कथा बहुत छोटी–सी है। बीसलदेवरास में कथा का विस्तार संदेशरासक से अधिक है। संदेशरासक में नायिका की विरह–व्याकुल चेष्टाओं के वर्णन के बाद उसकी छोटी–सी कथा पता चलती है कि उसका पति व्यापार करने के लिए खम्भात चला गया है। बीसलदेवरास में राजमती के विरह–वर्णन से पहले ही पूरी कथा का वर्णन हो गया है। राजमती मालवा के भोज परमार की पुत्री है। उसका विवाह साँभर के बीसलदेव से होता है। एक दिन राजमती बीसलदेव को उसकी आत्मप्रशंसा पर टोक देती है। उससे नाराज होकर बीसलदेव उड़ीसा चला जाता है। यहीं से राजमती का विरह–वर्णन शुरू होता है। राजमती के विरह–वर्णन से पूर्व उसके विवाह का सुंदर वर्णन नरपति नाल्ह ने किया है। विवाह के बाद जब राजमती और बीसलदेव में विवाद होता है, उस समय राजमती द्वारा बीसलदेव को मनाने का सुंदर चित्रण है। संदेशरासक के कथानक में ऐसे वर्णनों का पूरा अभाव है। सिर्फ एक जगह नायिका ने कहा है कि उसके बहुत रोकने के बाद भी उसका पति नहीं रुका और व्यापार के लिए चला गया।

दोनों रचनाओं की नायिका प्रोषितपतिका हैं, लेकिन उनकी अपनी स्थिति में बहुत फर्क है। संदेशरासक की नायिका सामान्य स्त्री है जबकि राजमती रानी है। विरह–वर्णन में भी इस फर्क को देखा जा सकता है। संदेशरासक की नायिका जहाँ पति–विरह में व्याकुल होकर किसी पथिक के इंतजार में निरंतर पथ निहार रही है वहीं राजमती पति के जाने के बाद कभी राजभवन तो कभी चौपाल में पति को ढूँढ रही है। राजभवन पूरी रचना में राजमती के साथ है। नाल्ह ने कभी भी राजभवन से राजमती को अलग नहीं किया है। संदेशरासक की नायिका जिस स्थिति में नितांत अकेली है वहीं राजमती इस दुःख के समय में भी कभी सखियों तो कभी पड़ोसिनों से घिरी है। सात सखियाँ पूरी रचना में समय–समय पर राजमती के साथ उपस्थित हैं। नरपति ने राजमती की रानियोचित सभी सुविधाओं का पूरा खयाल रखा है। नाल्ह ने राजमती के खाने–पीने

से लेकर औषधि आदि न लेने का भी जिक्र विरह–वर्णन के क्रम में किया है जबकि अब्दुलरहमान ने अपनी नायिका के संदर्भ में इन वस्तुओं की कोई आवश्यकता नहीं समझी है।

नरपति नाल्ह ने राजमती के रानी चरित्र को पूरी तरह वहाँ उभारा है जहाँ वह बीसलदेव के गर्व का प्रतिवाद करती है। उस समय का वर्णन बहुत मनोवैज्ञानिक है। राजमती तो स्वयं भोज जैसे प्रतापी राजा की कन्या है और बीसलदेव उसके सामने कहता है कि उसके समान राजा पूरी पृथ्वी पर कहीं नहीं है। यहाँ बात सीधे–सीधे एक राजा और रानी के मध्य हो रही है, पति और पत्नी के बीच नहीं। दोनों का तेवर अपने–अपने अस्तित्व के साथ वहाँ दिखायी देता है। तत्कालीन सामंती युग में राजमती जैसी रानी ही किसी राजा का प्रतिवाद कर सकती थी। यह संदेशरासक की नायिका जैसी साधारण स्त्री के वश की बात न थी। राजा रानी से रूठता है और किसी न किसी बहाने राजमती उसे कुछ दिन और रोक कर मनाने का प्रयास भी करती है। यह तो रानी के ही हैसियत की बात है कि पंडित को बीसलदेव की यात्रा की तिथि चार महीने आगे बढ़ा देने के एवज में हाथ की मुद्रिका और सोने से मढ़ी सींगों वाली कपिला गाय दे सके –

पंडिया हूं थारी गुणकेरी दासि।
जोसीडा दीह मउडउ परगासि।
मास च्यारि विलंबाविज्यो।
तेतलइ ल्यउंगी म्हाकउ प्रीय समझावि।
देसू हाथ कउ मूद्रडउ
सोवन सींगी कविलीय गाइ।।[1]

संदेशरासक के नायिका की स्थिति तत्कालीन सामंती समाज और परिवार में इतनी मजबूत नहीं है कि वह अपने पति का प्रतिवाद कर सके और न ही उसे पति को रोकने या मनाने का इतना मौका ही मिला। राजमती ने तो बीसलदेव के मिथ्यागर्व पर आघात किया था। भले ही राजमती ने सही कहा था फिर भी तत्कालीन समाज में स्त्री होने के कारण यह उसका दोष माना गया। बीसलदेव ने लम्बे समय तक उड़ीसा में प्रवास करके उसको इसी दोष की सजा दी, लेकिन संदेशरासक की नायिका ने तो ऐसा कुछ भी नहीं किया था। उसके बिना किसी दोष के ही उसका अनुरक्त प्रिय विरक्त हो गया –

रत्तउ जं च विरत्तउ निद्दोसे पिउ।
गेय सुणिय परवेयण निन्नेह चलह।[2]

सामान्य स्त्री होने की वजह से उसे इतना भी अधिकार नहीं है कि वह अपने पति की उपस्थिति में किसी तीसरे से अपने मन की बात कर सके। अपने पति से भी वह कहाँ कुछ कह पाती है ! राजमती के संदर्भ में तो पूरा राजभवन बीसलदेव को रोकने के लिए तत्पर हो जाता है। सखियों से लेकर उसकी जेठानी और पंडित तक राजमती की बात पहुँच जाती है। सब अपने सामर्थ्यभर बीसलदेव को रोकने की पूरी कोशिश करते हैं। बीसलदेव से राजमती के गुणों का बखान करते हुए उसकी भाभी कहती है –

ऊभडी भावज दीयइ छइ सीष।
रतन कचोलइ किम पाडइ भीष।
सा किम पगस्यंउ ठेलिजइ।
इसीय अस्त्रीय नवि राउ कइ नारि।
इसीय न देवलि पूतली।
करल नयण धण वचन सुमीठ।
दईय निपाई विहि घडी।
म्हे तउ इसी तिरी न रवि तलै दीठ।।[3]

उन्होंने राजमती जैसी स्त्री कहीं नहीं देखी। राजमती का सौन्दर्य तो देवालयों की मूर्तियों से भी अधिक है। वह राजमती को देवताओं द्वारा बनायी हुई और विधि द्वारा गढ़ी हुई मानती है। संदेशरासक की नायिका को भी जब पथिक देखता है तो वह विस्मय में पड़ जाता है। नायिका उसे शैलजा पार्वती से भी अधिक सौन्दर्यवान लगती है। नायिका का रूप–सौन्दर्य तो राजमती के ही समकक्ष है लेकिन पति के समक्ष उसे प्रकट करने वाला कोई एक भी साधन उसके पास नहीं है जैसा कि राजमती के पास उपलब्ध है। यदि पति–वियोग की व्याकुलता में वह पथ निहारते हुए नहीं भटकती तो पथिक भी कहाँ उस रूप का साक्षात्कार कर पाता। पति के जाने के बाद ही वह पथिक जैसे तीसरे व्यक्ति से अपने हृदय की बात कहने के लिए विवश है अन्यथा उसके पास इतना अवकाश कहाँ था। वह तो घर के भीतर रोजमर्रा का जीवन व्यतीत कर रही थी। उसे शायद इसका भान भी नहीं हुआ होगा कि पति अचानक परदेश चला जायेगा।

एक ही दुःख से दुखी होने के बावजूद दोनों की सामाजिक स्थिति ने उनके संदेश–कथन में भी फर्क ला दिया है। पथिक से पहली बार संदेश कहने में संदेशरासक की नायिका में लज्जा और ग्लानि का भाव अधिक है जबकि राजमती के पूरे संदेश में ऐसा कोई भी भाव कहीं नहीं मिलता है। बीसलदेव को मनाने के क्रम में भी राजमती को अपनी कही गयी बात के प्रति कोई लज्जा नहीं है। वह अपनी बात के प्रति तटस्थ है भले ही

पति के जाने का दुःख असह्य होता जाता है। बीसलदेव को मनाते हुए भी वह सीधे–सीधे कहती है कि तुमने राजा भोज की कन्या से विवाह किया है। उसके समस्त सौन्दर्य और गुणों को तुम इस प्रकार ठुकराते क्यों हो –

बेटी ब्याही राजा भोज की।
सोलहउ सोनउ काइं करइ छार।[4]

नरपति नाल्ह ने पूरी रचना में राजमती के इस गरिमा को पूरा विस्तार दिया है जबकि अब्दुलरहमान ने संदेशरासक की नायिका के चरित्र–विस्तार का कोई प्रयत्न नहीं किया है। नरपति ने विरह–वर्णन के बाद भी राजमती का तेजस्वी चरित्र जस का तस बनाये रखा है। बीसलदेव के उड़ीसा से वापस आने के बाद भी वह दीन–हीन अवस्था में उससे नहीं मिलती बल्कि अपने पहले वाली मुखरता के साथ ही उससे उलाहना देती है। राजमती का चरित्र बाल्मीकि रामायण की सीता के समान मुखर है जबकि संदेशरासक की नायिका का चरित्र अंतर्मुखी है।

विरह–व्याकुल राजमती को समझाने के क्रम में सीता और दमयंती का चरित्र सामने रखा गया है। राजमती के विरह–वर्णन में इन चरित्रों का प्रभाव अधिक दिखायी पड़ता है। राजमती को पति की अनुपस्थिति में सर्वाधिक चिंता कलंकित होने की है। लोकोपवाद का यह भय उसे सीता के उदाहरणस्वरूप ही मिला होगा। इसके विपरीत संदेशरासक की नायिका के यहाँ ऐसी कोई चिंता नहीं है। वह तो एकदम अनजान पथिक से इस प्रकार के किसी भय से पूरी तरह मुक्त होकर अपने मन की बात कहती है। इसका एक कारण यह भी है कि रानी होने की वजह से राजमती के पास अपनी वेदना सुनाने और संदेश–प्रेषण के लिए कई विकल्प हैं जबकि संदेशरासक की नायिका विकल्पहीनता की स्थिति में है। यदि यह पथिक चला गया तो उसे पुनः न जाने कितने महीने इंतजार करना पड़ेगा। विकल्पहीनता की इस स्थिति में यदि वह लोकोपवाद की चिंता करने लगे तो, विरह–ज्वाला में जलकर ऐसे ही खत्म हो जायेगी। इसीलिए वह सारी चिंताओं से मुक्त लगभग दौड़ती हुई पथिक को रोकती है। जब पथिक जैसा सहृदय संदेशवाहक सामने है तो अपना हृदय पूरी तरह कैसे न उसके सामने खोल दे !

संदेशरासक की नायिका का आरम्भ में जो चित्रण कवि ने किया है उससे यह बात भी ध्वनित होती है कि वह पूर्ण रूप से सामान्य वर्ग की स्त्री नहीं है। उस समय के समाज का व्यापारी वर्ग एक तरह से मध्यवर्ग था। यह वर्ग राजा, सामंत और सामान्य वर्ग के बीच की कड़ी है। यह वर्ग काफी पहले से ही समाज में उपस्थित रहा है। इस संदर्भ

में रोमिला थापर ने लिखा है –

"वनों की सफाई होने और नई बस्तियों के बसने से एक व्यापारी वर्ग का जन्म हुआ जो वस्तुओं के संभरण और आदान–प्रदान का कार्य करता था। इस प्रकार कृषकों – जिन्होंने वनों को साफ करके बस्तियाँ बनायी थीं और व्यापारियों – जिन्होंने विभिन्न बस्तियों के बीच आर्थिक सम्बन्ध स्थापित किए थे – के मध्य स्वाभाविक रूप से अलगाव आ गया।"[5]

यह वर्ग आता तो प्रजा में ही है लेकिन इसकी अपनी पारिवारिक और सामाजिक स्थिति सामान्य प्रजा से थोड़ी ऊपर होती थी। इसे इस रूप में समझा जा सकता है कि उत्पादक और भोक्ता दो वर्गों में विभाजित तत्कालीन समाज में यह वर्ग न तो पूरी तरह सामंती स्वभाव वाले भोक्ता वर्ग में आता है और न ही शोषित उत्पादक वर्ग में। इस तीसरे वर्ग में स्त्री की स्थिति उपर्युक्त दोनों वर्गों से भी अधिक खराब थी। उसमें न तो राजमती जैसी रानी के समान बोलने का सामर्थ्य है और न ही सामान्य उत्पादक वर्ग की स्त्री के समान पारिवारिक मामलों में बोलने का कोई हक। परिवार के आय में सहयोग करने वाली उत्पादक वर्ग की स्त्रियों को परिवार के किसी भी मसले पर बोलने का अधिकार होता है। कभी–कभी तो वह स्वतंत्र निर्णय लेने में भी समर्थ होती हैं। उत्पादक वर्ग की स्त्रियों की स्वतंत्रता के संदर्भ में डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है –

"निम्न वर्ण के लोगों को अपना पेट पालने के लिए सपरिवार काम करना पड़ता है। उनका पूरा परिवार स्वामी पर अवलंबित होता है, अतः वे सपरिवार स्वामी की सेवा करते हैं। उनकी औरतें घर में रहना गवारा ही नहीं कर सकतीं। इसलिए उन्हें बाहर निकलने की आजादी विवशतः मिल जाती है।"[6]

संदेशरासक की नायिका उस समाज के तीसरे वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। उसकी लज्जा, ग्लानि और अंतर्मुखी स्वभाव का मुख्य कारण उसका वर्ग विशेष है। बीसलदेवरास की राजमती की मुखरता का कारण उसकी सामाजिक स्थिति के साथ–साथ उसका अपना स्वभाव भी है। राजभवन की अन्य स्त्रियाँ तो पति को पगड़ी में फूल के समान सम्भालकर रखने की बात कहती हैं। राजमती का चरित्र इन स्त्रियों से बिल्कुल अलग है। वह पति के जीवन में पत्नी के पूरे अधिकार के साथ रहने की बात सोचती है। बीसलदेव के उड़ीसा जाने से पहले ही वह अपना यह अधिकार प्रकट कर चुकी है। इस अधिकार भावना के प्रकटीकरण के समय उसका चरित्र रानी के कलेवर से बाहर निकलकर निहायत सामान्य स्त्री जैसा हो जाता है। फिर भी रानी का अस्तित्व विद्यमान

है तभी तो चाकरी के लिए जाते हुए पति को उसी दर्प के साथ राज की नीति समझाती है –

स्वामी ऊलग जाण की षरीय दुसार।
राज नी नीति जिसी षंडा नी धार।
मूरष लोक जाणइ नही।
चोर जुवारी नइ कल्लाल।
तिण सुं हसीय म बोलिज्यो।
राजा जी पूछइ मरम कइ बात।
जूठी सांची थे मत कहउ।
मुहडा आडउ ते दीज्यो हाथ।।[7]

राज और दरबार की रीति–नीति जानने वाली राजमती जैसी मुखर पत्नी ही पति से ऐसी बातें कह सकती है। घर की चारदीवारी में बंद स्त्री को इतना ज्ञान कहाँ ! संदेशरासक की नायिका जैसी स्त्रियाँ अपने पति को बाहर जाते हुए इस प्रकार की कोई रीति–नीति नहीं समझा सकतीं। जाते हुए पति को रोकने का अवकाश तो नायिका को मिला नहीं। रीति–नीति समझाने की तो बात ही बहुत दूर है। जिस तरह का स्वभाव संदेशरासक की नायिका का है उसमें यदि उसे इतना अवकाश मिलता तो भी वह व्यापार के लिए जाते हुए पति को व्यापार की नीति नहीं समझा सकती थी।

स्वभाव और वर्गगत अंतर के बाद भी दोनों नायिकाएं एक स्तर पर लगभग एक जैसी हो गयी हैं। अपना सर्वस्व अर्पित करने के बाद भी यदि प्रिय का प्रेम न मिले तो जो व्याकुलता होती है उस स्तर पर इन दोनों ही स्त्रियों का स्वभाव लगभग एक जैसा हो जाता है। दोनों स्त्रियों के संदेश–कथन में यह विकलता देखी जा सकती है। इस स्थिति में न तो रानी राजमती का रानीपन उसमें दिखायी देता है और न ही संदेशरासक की नायिका में उसकी वर्ग–विशेषता। दोनों इस स्तर पर विरहिणी स्त्री मात्र हैं। उनकी पति–वियोग की व्याकुलता ही उन्हें एक जैसा व्यवहार करने के लिए विवश करती है। इसी व्याकुलता के वशीभूत होकर संदेशरासक की नायिका पथिक के पीछे–पीछे दौड़ती है तो राजमती पंडित के घर जाकर उससे विनती करती है। विरह की इस अवस्था में दोनों ही अपने प्रिय को उसके कर्त्तव्य का बोध कराना चाहती हैं। इस समय दोनों नायिकाएं पति को अपना सब कुछ अर्पित कर चुकी और पति की ओर से भी प्रेम की अपेक्षा रखने वाली सामान्य स्त्री के रूप में चित्रित की गई हैं। प्रेम–प्राप्ति की इसी उम्मीद में संदेश कथन का आरम्भ ही पति को उसके कर्त्तव्य का स्मरण कराने से होता है।

संदेशरासक की नायिका कहती है कि प्रिय के जाने के बाद मेरे साथ कितना बड़ा परिहास हो रहा है। प्रिय को सम्बोधित करते हुए वह कहती है कि मेरे जिन अंगों का संयोग तुम्हारे जैसे वीर पराक्रमी से हुआ था उन्हें अब विरह जला रहा है। तुम मेरे हृदय में स्थित हो फिर भी विरह काया को विडंबित कर रहा है। तुम्हारे जैसे सत्पुरुषों के लिए दूसरों से ऐसा पराभव मरण से भी अधिक है। इसी भाव को प्रकट करती हुई राजमती बीसलदेव को सम्बोधित करती हुई कहती है कि तुमने मेरा पाणिग्रहण किया था। उसके साक्षी सूर्य, चंद्रमा, वायु, जल, धरती और आकाश सब थे। मैंने भी तुम्हारा विश्वास किया था। फिर भी तुम मुझे विरह में मरने के लिए छोड़ गये।

पति–वियोग में दोनों की स्थिति एक जैसी है। न तो उनसे प्राण धारण किया जाता है और न ही प्राण त्यागा जाता है। ऐसी विषम परिस्थिति में प्रेमातिरेक के कारण संदेशरासक की नायिका अपने पति को कापालिक, निर्दय, निशाचर जैसे शब्दों से सम्बोधित करती है तो राजमती बीसलदेव को मूर्ख और मलिन हृदय वाला कहती है। उसे काला–सर्प होने की बात कहती है। ऐसे में भाव साम्य के साथ ही साथ उनके कथनों में भी समानता है। अपनी शारीरिक दुर्बलता को प्रकट करती हुई संदेशरासक की नायिका कहती है कि कनिष्ठिका उँगली की मुँदरी में मेरी बाँह समा जाती है। यही कथन राजमती के यहाँ भी है –

पंडिया कहिज्यो म्हारी प्रीय नइ जाइ।
डावां हाथ कउ मूंदडउ।
ढलिक कर आवइ हो जीमणी बांह।।[8]

विरह–व्याकुल हृदय की विवशता में इस स्तर पर तो दोनों समान हैं लेकिन भावों की अभिव्यक्ति में कुछ कुछ समानताओं के साथ कई असमानताएं भी हैं। पति को कापालिक, निशाचर, निर्दयी कहने के बाद भी संदेशरासक के नायिका की स्वभावगत अंतर्मुखता अंत तक बनी हुई है जबकि राजमती के विरह–वर्णन में हृदय की वेदना के साथ ही साथ उसकी वाणीगत मुखरता भी प्रकट हो जाती है। एक ओर तो वह अपने हृदय की विकलता को बताते हुए कहती है कि प्रिय वियोग में मैं दावाग्नि से जली लकड़ी सदृश हो गयी हूँ, वहीं दूसरी ओर विदग्ध होकर कहती है कि हे स्वामी ! तुम्हारी समझ को मैं आग लगा दूँ।

राजमती के विरह–वर्णन में उसके स्वभाव के ही अनुसार स्वछंदता अधिक है जबकि संदेशरासक की नायिका के यहाँ वेदना की सघनता अधिक है। इसी कारण

राजमती के दुःख में भी उसके चरित्र का विस्तार होता गया है जबकि संदेशरासक की नायिका अपनी वेदना को ही अभिव्यक्त करती रह गयी है। राजमती के चरित्र के माध्यम से सामंती समाज के भीतर स्त्री की उन्मुक्त कल्पना को समझा जा सकता है जबकि संदेशरासक की नायिका उस समाज की स्त्री के दुःख को ही प्रदर्शित करके रह जाती है। राजमती विरह दशा में कभी जाटनी बनने की कल्पना करती है तो कभी कोयल, जबकि संदेशरासक की नायिका के यहाँ अपने उस समय के दुःख से आगे निकलकर ऐसी किसी कल्पना का कोई स्थान नहीं है।

अपनी उन्मुक्त कल्पनाओं के माध्यम से राजमती पूरे सामंती व्यवस्था का विरोध करती है। प्रिय–वियोग में उसका भी हृदय उसी तरह व्याकुल है जैसे संदेशरासक की नायिका का। राजमती पति से अलग होकर जीने की कल्पना से ही विकल हो गयी है। जब बीसलदेव उड़ीसा जाने की जिद ठान लेता है तो राजमती भी साथ चलने के लिए कहने लगती है –

ऊलग जाण की करइ छै बात।
हुं पण आवसुं रावलइ साथि।
बांदीय हुइ करि निरबहूं।
पाव तलासिसुं धोलिसुं वाइ।
ऊभीय पुहरइ जागिसुं।
इण परि ऊलगुं आपणउ राय।।[9]

वह कहती है यदि तुम चाकरी करने जाओगे तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी। मैं तुम्हारी सेविका होने के धर्म का निर्वाह करूँगी। तुम्हारे पाँव दबाऊँगी, पंखा झलूँगी और तुम्हारे सो जाने पर पहरा देते हुए जागूँगी। इस प्रकार मैं अपने राजा की सेवा करूँगी। इस छंद में राजमती द्वारा कही गयी बातें विरह के समय की मुक्त कल्पना की पृष्ठभूमि जैसी हैं। यहाँ "राजा" सम्बोधन राजमती ने अपने हृदय के स्वामी को दिया है, रूढ़ सामंती मानसिकता वाले बीसलदेव को नहीं। उपर्युक्त छंद में राजमती की भावना प्रेम के जिस निश्चल रूप में प्रकट हुई है वही भाव तुलसीदास ने राम और सीता के सम्बन्ध में प्रकट किया है –

जलको गए लक्खनु, हैं लरिका
परिखौ, पिय ! छाहँ घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौ,

अरु पाय पखारिहौं भूभुरि–डाढ़े।।
तुलसी रघुबीर प्रियाश्रम जानि कै
बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकीं नाहको नेहु लख्यो,
पुलको तनु, वारि बिलोचन बाढ़े।।[10]

यहाँ सामंती वातावरण से दूर मधुर प्रेम का कितना सुंदर चित्र है। राजमती के मन में भी बीसलदेव के प्रति वही भाव है जो उपर्युक्त छंद में सीता का राम के प्रति। सीता को राम की तरफ से भी वैसा ही प्रेम मिल रहा है जबकि राजमती को बीसलदेव की ओर से दूसरी सामंती सीख मिलती है। बीसलदेव के इस सीख में तत्कालीन सामंतों की निकृष्ट भावना का सीधे–सीधे वर्णन है –

गहिली हे मुंधि तोहि लागी छइ वाइ।
अस्त्री लेइ कोइ ऊलग जाइ।
भोली है नारि तू बाउली।
चंद कूडइ किउं ढांकियउ जाइ।
रतन छिपायउ किउ रहइ।
उवइ वाचाकउ हीणउ पूरव्यउ राउ।।[11]

घर में तो बीसलदेव अपनी स्त्री को महत्त्व दे ही नहीं रहा है, उसे बाहर लेकर कैसे जाए। वह भी उस सामाजिक व्यवस्था में जहाँ स्त्री चाहे किसी की हो लेकिन उसे भोगेगा वही जो उसे प्राप्त कर सके। भोग्या से अलग स्त्री का कोई स्थान ही नहीं था उनके यहाँ। राजमती अपने विरह–वर्णन में इस समाज से मुक्त होने की बात सोचती है। उसकी जटनी बनने की कल्पना में उसी प्रेम–प्राप्ति की ललक है जो तुलसी वर्णित उपरोक्त छंद में सीता को प्राप्त है।

ऐसी किसी समाज–व्यवस्था से अलग होकर मुक्त जीवन जीने का कोई चित्रण संदेशरासक की नायिका के विरह–वर्णन में नहीं है। राजमती अपने हृदय के स्वामी बीसलदेव की बाट अपने केशों से बुहारने के लिए तत्पर है लेकिन राजा बीसलदेव की हर गलत बात का वह पूरा प्रतिकार करती है। स्त्री–जीवन के विभिन्न पक्षों का जितना विस्तृत चित्रण बीसलदेवरास के कथानक में है उतना संदेशरासक में नहीं। वहीं विरही हृदय की वेदना का जितना विस्तृत वर्णन संदेशरासक में है वैसा बीसलदेवरास में नहीं है।

4.2 वर्णन–प्रणाली

एक ही विषय–वस्तु पर आधारित होने के बावजूद दोनों रचनाओं की वर्णन–प्रणाली भिन्न–भिन्न है। भाव के स्तर पर इनमें कुछ समानता है लेकिन शिल्प के स्तर पर ये नितान्त भिन्न हैं। दोनों रचनाओं का प्रारम्भ ईश–वन्दना से हुआ है। अपने–अपने धर्मानुसार दोनों रचनाकारों ने ईश्वर की वन्दना की है। अब्दुलरहमान 'कर्तार' की वन्दना करते हुए कहते हैं –

माणुस्सदिव्वविज्जाहरेहिँ णहमग्गि सूर–सरिबिंबे।
आएहिँ जो णमिज्जइ तं णयरे णमह कत्तारं।।[12]

जिसे मनुष्य, देवता, विद्याधर और आकाशमार्ग में विचरण करने वाले सूर्य और चन्द्र बिम्ब नमस्कार करते हैं, उस करतार को नमस्कार करो। नरपति नाल्ह ने गणेश और सरस्वती की वंदना की है –

दूसडइ कडवइ गणपति गाइ।
नवण करी नइ लागु जी पाइ।
X X X
भूलउ जी अक्षर आणिज्यो ठांइ।।[13]

पुनः देवी सरस्वती से काव्य–रचना के लिए वर माँगते हुए कवि कहता है –

हंस बाहणि देवी करि धरइ वीण।
जूठडउ कवित कहइ कुलहीण।
वर देज्यो माता सारदा।
भूलउ जी अक्षर आणि बहोडि।
तइं तूठी अक्षर जुडइ।
नाल्ह वषाणइ बे कर जोड़ि।।[14]

ईश–वन्दना के बाद दोनों रचनाकारों ने अपनी कविता का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। नरपति ने तीसरे और पाँचवें छंद में अपरोक्ष रूप से ग्रंथ के केन्द्रीय भाव राजमती के विरह और उसके कारण का उल्लेख किया है। उसके बाद छठवें छंद से बीसलदेव रास की कथा शुरू हो जाती है। संदेश रासक में प्रथम प्रक्रम के कई छंदों में अब्दुलरहमान ने स्पष्ट किया है कि यह रचना सामान्य जनों के लिए लिखी जा रही है। इस प्रक्रम का अंतिम छंद है –

अइणेहिण भासिउ रइमइवासिउ,
सवणसकुलियह अभियसरो।
लइ लिहइ वियक्खणु अत्थह लक्खणु
सुरइसंगि जु विअड्ढ नरो।।[15]

कवि ने ग्रंथ की रचना अत्यंत स्नेहपूर्वक की है। रचना प्रेम और शृंगार की भावना से परिपूर्ण है और इसे वही व्यक्ति समझ सकता है जिसने स्वयं प्रेम में विरह का अनुभव किया हो।

उपर्युक्त समानताओं के अतिरिक्त इन रचनाओं का शिल्प एक–दूसरे से एकदम अलग है। संदेशरासक में लघु–कथानक होने के बावजूद उसमें पूरी प्रबंधात्मकता विद्यमान है जबकि बीसलदेवरास में प्रबंध का अभाव है। संदेशरासक तीन प्रक्रमों में विभाजित और पूरी रचना शास्त्र वर्णित रासक–काव्य–रूप के अनुरूप लिखी गयी है। बीसलदेव रास में शास्त्र–वर्णित किसी भी परम्परा का कोई पालन नहीं है। इसमें कथानक के स्तर पर और रचना के शिल्प के स्तर पर भी किसी प्रकार का कोई विभाजन नहीं है। इसमें एक के बाद एक घटनाएं आती गयी हैं और अपनी क्षमता के अनुसार कवि इनका वर्णन करता गया है। बोलचाल की भाषा में रचना करते हुए भी अब्दुलरहमान ने शास्त्रीय शैली को अपनाया है जबकि बीसलदेव रास की शैली गाँव–घर में प्रचलित लोक–कथाओं वाली है।

दोनों रचनाकारों की वर्णन–प्रणाली में इतना फर्क उनके वर्ग विशेष से प्राप्त रचनात्मक परम्परा के कारण है। अब्दुलरहमान ने संदेशरासक में अपना पूरा परिचय दिया है। कवि के परिचय से पता चलता है कि वह वयनजीवी जाति का है। भारत में शिल्पी जातियों का समृद्ध इतिहास है। शिल्पी जातियों का भारत के सांस्कृतिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। भारत की रूढ़ जातिव्यवस्था को शिल्पियों ने बहुत प्रभावित किया। कई बार तो इस वर्ग ने भारतीय वर्ण–व्यवस्था को भी जोरदार झटका दिया। भारत के प्राचीन इतिहास में वर्णव्यवस्था और शिल्पियों की स्थिति के संदर्भ में रामशरण शर्मा ने इन प्रभावों की तथ्यगत व्याख्या की है। 'मनुस्मृति' में शूद्रों के प्रति जो व्यवहार है उसे स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा है –

"कतिपय प्राचीन पुराणों में कलियुग के जो वर्णन मिलते हैं, वे प्रायः इसी युग का संकेत करते हैं जबकि वर्ण के आधार पर विभाजित ब्राह्मण समाज की नींव अवधर्मी सम्प्रदायों के कार्यकलाप और बैक्टेरियन ग्रीक, शक, पार्थियन और कुषाणों जैसे विदेशियों

की चढ़ाई के कारण हिल गयी थी। अंशतः अशोक की बौद्धों की समर्थक नीति और अंशतः इन नये लोगों के आगमन के चलते ब्राह्मण समाज पर जो आघात हुआ, उससे मनु ने उसे बचा रखने की जी–तोड़ कोशिश की है और इसके लिए उन्होंने न केवल शूद्रों के विरुद्ध कठोर दंड का विधान किया है, बल्कि बाहरी तत्त्वों को वर्णसमुदाय में समाविष्ट करने के उद्देश्य से उनकी समुचित वंशावली भी बनायी।"[16]

शक, पर्थियन और कुषाण शासकों के आगमन से भारत की व्यापारिक पहुँच मध्य एशिया तक हो गयी। इस युग में पूरे भारत में वणिक समुदाय समृद्ध हो गया। कला और शिल्प के विकास में भी इस व्यापारिक हलचल का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इससे निम्न जातियों में एक नई शक्ति का उद्भव हुआ। शिल्पियों में अधिकांशतः समाज के निम्न वर्ण के ही लोग थे और तब तक व्यवसाय भी व्यक्ति के जन्म से जुड़ गया था। इस परिवर्तन से शिल्पी जातियों ने तत्कालीन समाज पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला। शिल्पियों के अपने संगठन बन गये थे और उनका व्यवसाय सामुदायिक स्तर का हो गया था। जिस कारण उनके किसी भी कार्यकलाप का समाज–व्यवस्था पर पूरा प्रभाव पड़ रहा था। इस संदर्भ में रोमिला थापर ने लिखा है –

"मौर्यकाल से चली आ रही शिल्प–श्रेणियाँ उत्पादन को नियोजित करने और लोकमत का निर्माण करने – दोनों दृष्टियों से नागरिक जीवन में और अधिक महत्त्वपूर्ण बन गयीं। शिल्पी बहुत बड़ी संख्या में इन श्रेणियों के सदस्य बनते थे, क्योंकि व्यक्तिगत रूप में श्रेणियों से प्रतिस्पर्धा करना उनके लिए कठिन था। इसके अतिरिक्त श्रेणियाँ उन्हें सामाजिक मर्यादा और बहुत हद तक सामान्य सुरक्षा भी प्रदान करती थीं।"[17]

नये शासकों के आगमन से भारत के तत्कालीन स्थिर जीवन में भी हलचल हुई होगी। जिससे वर्ण–विशेष के अधिकारों का भी ह्रास हुआ होगा। तत्कालीन समाज में इस परिवर्तन का प्रभाव शूद्रों पर भी पड़ा होगा। निम्न तबके में जिस नई शक्ति का संचार हुआ उसने समाज के रूढ़ वर्ण–व्यवस्था के ढाँचे को तोड़ने की पूरी कोशिश की। इस संदर्भ में रामशरण शर्मा ने लिखा है –

"मनु के विधिग्रंथों में भी शूद्रों की स्थिति में हुए उन बहुतेरे परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है, जो ब्राह्मणों के विरुद्ध उनके संघर्ष, नए–नए लोगों के आगमन और कला एवं शिल्प के विकास के परिणाम थे।"[18]

शिल्पी जातियों ने रूढ़ सामाजिक नियमों के विरुद्ध बहुत संघर्ष किया, यह इनकी वर्गगत विशेषता बन गई। कला और संस्कृति के विकास में अपनी उपादेयता को

समझने से इनमें यह आत्मविश्वास आया होगा। तंतुवाय शिल्पियों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाली जाति है। संदेशरासक के रचनाकार का सम्बन्ध इसी जाति से है। मध्यकाल में इस जाति का संबंध इस्लाम से हो गया। भारतीय मुसलमान जातियों में जुलाहों का स्थान निम्न है। डॉ. रिजली के ग्रंथ के आधार पर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने निष्कर्ष दिया है कि भारत में यह जाति विशेष स्थानों पर पाई जाती है और उन स्थानों पर उनकी जनसंख्या काफी है। द्विवेदी जी के अनुसार –

"जुलाहे पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में ही पाये जाते हैं। ये जहाँ हैं वहाँ थोक–के–थोक हैं। एक पूरा का पूरा भूखंड इनके द्वारा अध्युषित है। ..... इस प्रकार उत्तरी पंजाब से लेकर ढाका कमिश्नरी तक अर्धचंद्राकृति भू–भाग में फैले हुए हैं। इन प्रदेशों में कभी नाथपंथी योगियों का बड़ा जबरदस्त प्रभाव था।"[19]

जुलाहा मुसलमान होने से पूर्व भारत की कोई निम्न जाति ही थी। इस्लाम के आगमन के बाद भारत में दो धर्म मुख्य हो गये – हिन्दू और इस्लाम। इससे पूर्व भारत में कई धार्मिक सम्प्रदाय थे जो एक दूसरे के विरोधी थे। इन सम्प्रदायों में कुछ वेदविरोधी थे और कुछ वेद समर्थक। दो मुख्य धर्म हो जाने के कारण इन सभी सम्प्रदायों को दोनों में से किसी एक का चुनाव करना पड़ा। वेदविरोधी सम्प्रदायों ने निश्चित रूप से इस्लाम का ही चुनाव किया होगा। खासतौर से अपनी सामाजिक स्थिति से असंतुष्ट जातियों ने तो निश्चित रूप से हिन्दू धर्म विरोधी इस नये धर्म का स्वागत किया होगा। नाथपंथियों के प्रभाव वाले क्षेत्रों के निम्न जाति वाले लोगों का इस्लाम स्वीकार करना एक ऐतिहासिक तथ्य बन जाता है, क्योंकि नाथपंथ तत्कालीन समाज में एक सशक्त वेद विरोधी स्वर था। इस संबंध में द्विवेदी जी ने लिखा है –

"परंतु कुछ मार्ग इतने वेद विरोधी थे कि उनका सामंजस्य किसी प्रकार इन मतों से नहीं हो सका; वे धीरे–धीरे मुसलमान होते रहे।

x x x x

एक सरसरी निगाह से देखने पर भी स्पष्ट हो जायेगा कि आज भी उन्हीं सम्प्रदायों में मुसलमान योगी अधिक हैं जो शिव द्वारा प्रवर्तित और बाद में गोरक्षनाथ द्वारा स्वीकृत थे।"[20]

अब्दुलरहमान का परिवार भी इसी प्रकार का धर्म–परिवर्तित मुसलमान था। शायद इस धर्म–परिवर्तन को अधिक समय नहीं हुआ होगा, ऐसा संदेशरासक में किये गये नगर–वर्णन से जान पड़ता है। अपनी सामाजिक स्थिति को लेकर आत्मविश्वास और

रूढ़िगत सामाजिक नियमों का विरोध अब्दुलरहमान की वर्गगत विशेषता थी जो उन्हें परम्परा से प्राप्त हुई। काव्य–रचना भी जुलाहा जाति में परम्परा–प्रचलित है। इस संदर्भ में विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है –

"वयनजीवी जातियों में काव्यरचना की प्रवृत्ति भी काफी पुरानी मालूम पड़ती है। 'भोजप्रबंध' में उल्लिखित एक रोचक प्रसंग मिलता है। जिससे पता चलता है कि बुनकरी का पेशा और कविता करने का काम साथ–साथ चल सकता था। एक कुविंद ने सहसांक से कहा : 'कविता करता हूँ, बहुत अच्छी नहीं करता, यत्न करूं तो अच्छी भी कर सकता हूँ। मैं कविता करता हूँ, बुनकरी करता हूँ।"[21]

जुलाहा जाति का व्यक्ति यदि कविता करेगा तो उसकी कविता में भी उसका वही आत्मविश्वास दिखायी देगा जो उसकी वर्गगत विशेषता है। अब्दुलरहमान को सामाजिक पक्षधरता और कविता दोनों विरासत में मिली। कविता से कवि का सम्बन्ध बहुत पुराना है ऐसा उसके आत्मपरिचयात्मक छंद में मिलता है –

तह तणओ कुलकमलो पाइयकव्वेसु गीयविसयेसु।
अद्ददहमाणपसिद्धो संनेहरासयं रइयं।।[22]

इस छंद में कवि का आत्मविश्वास भी प्रकट हुआ है। आगे के छंदों में अपनी रचना के प्रति पूरे सम्मान का भाव प्रदर्शित करते हुए कवि ने यह भी निश्चित किया है कि उसकी रचना का पाठ किनके समक्ष किया जाय –

संपाडिउ जु सिक्खइ कुइ समत्थु,
तस कहउ विबुह संगहवि हत्थु।
पंडित्तह मुक्खह मुणहि भेउ,
तिहि पुरउ पढिव्वउ ण हु वि एउ।।[23]

कवि का आग्रह है कि मूर्ख और पंडित में भेद करने वाले लोगों के समक्ष उसकी कविता का पाठ न किया जाये। मूर्ख और पंडित में भेद मूर्ख तो करेंगे नहीं, कथित पंडित लोग ही करेंगे। अब्दुलरहमान का अपनी कविता और समाज के प्रति कितनी मजबूत पक्षधरता है कि उसे भविष्य में भी संकीर्ण मानसिकता वाले लोगों से दूर रखने का आग्रह कर रहे हैं। कवि प्राचीन कवियों का स्मरण करता है और अपनी कविता को लक्षण, छंदरहित कुकविता भी कहता है लेकिन इससे उसका आत्मसम्मान कहीं भी शिथिल नहीं पड़ा है। अपनी रचना के प्रति उतना ही प्रतिबद्ध होकर वह पुनः कहता है –

णहु रहइ बुहह कुकुवित्त रेसु,
अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसु।
जिण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार,
तिह पुरउ पढिब्बउ सव्ववार।।[24]

जो न तो मूर्ख हों और न ही पंडित बल्कि मध्यम कोटि के हों उनके सामने इस कविता को सदा पढ़ा जाय। मूर्खों के समक्ष बात रखने से कोई लाभ नहीं और पंडित जन के लिए एक जुलाहे की बातों का क्या मूल्य होगा। जो कवि के वर्गगत विशेषता के ही विरोधी हैं उनके सामने अपनी कविता को न ले जाने का आग्रह उसकी इस विशेषता को और अधिक मजबूत कर रहा है। कवि की यह प्रतिबद्धता उसके अन्य छंदों में स्पष्ट रूप से प्रकट हुई है। सामान्य वर्ग के प्रति ऐसी पक्षधरता कवि को सामान्य श्रृंगारिक वर्णन करने वाले कवियों की श्रेणी से अलग कर देती है। वह कहता है –

जइ भरहभावछंदे णच्चइ णवरंग चंगिमा तरुणी।
ता किं गामगहिल्ली ताली सद्दे ण णच्चेइ।।[25]

सामान्य जन–जीवन के प्रति कवि का पूरा लगाव है। वह सीधे–सीधे चाहता है कि शास्त्र और शास्त्रियों का जो स्थान समाज में है वही हर व्यक्ति को मिले। तभी तो कहता है कि यदि भरतमुनि द्वारा बनाये गये भाव और छंद के आधार पर कोई तरुणी नृत्य करती है तो गाँव की गलेहरी ताली बजाकर क्यों न नाचे ? सामान्य का विशेषीकरण या विशेष का सामान्यीकरण करने की ऐसी मुखर प्रवृत्ति तत्कालीन अन्य रचनाकारों के यहाँ नहीं मिलती।

बीसलदेवरास में इस प्रकार का कोई भाव नरपति नाल्ह ने अपनी कविता के प्रति नहीं व्यक्त किया है। इसका मुख्य कारण है नरपति की अपनी काव्यपरम्परा। नरपति नाल्ह की जाति के विषय में मतभेद है। रामकुमार वर्मा ने इन्हें चारण, रामचंद्र शुक्ल ने भाट और मोतीलाल मेनारिया ने ब्राह्मण कहा है। बीसलदेवरास की रचना शैली के आधार पर नरपति की जाति चारण या भाट ही लगती है। श्रृंगारिक काव्य होने के बाद भी रचना चरितकाव्य का आभास देती है, क्योंकि रचना में कथा का पूरा वर्णन उसी रूप में हुआ है। ईश्वर वन्दना के साथ ही कविता का मूल भाव प्रकट करने के बाद कवि सीधे कथा का वर्णन करने लगता है। आज भी गाँवों में आल्हा आदि गाने के लिए इसी शैली का प्रयोग होता है। चरितकाव्य के अनुरूप ही नरपति ने बीसलदेव और राजमती जैसे राजसी पात्रों का चयन किया है जबकि संदेशरासक की नायिका एक सामान्य स्त्री है।

दोनों रचनाकारों की अपनी वर्ग स्थिति का अंतर उनकी रचना के कथानक, पात्र–चयन और वर्णनप्रणाली में दिखायी देता है। दोनों अपने समय से आगे बढ़े हुए रचनाकार हैं। दोनों ने कटिबद्ध होकर अपनी पक्षधरता प्रस्तुत की है। उस वर्ग–विशेष की यह पक्षधरता कबीर के यहाँ वैसे ही अक्खड़ रूप में मौजूद है जैसी अब्दुलरहमान के यहाँ है। इस रूप में अब्दुलरहमान कबीर के पूर्वज कवि हैं। सामान्य स्त्री की वेदना को केन्द्र में रखकर रासक जैसे शास्त्रबद्ध शिल्प में 'संदेशरासक' की रचना करना, वह भी आम बोलचाल की भाषा में; कवि को सिद्धों, नाथों और संत–काव्य के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी बना देता है। संदेशरासक में भक्ति का कोई आग्रह कहीं नहीं है लेकिन अब्दुलरहमान विचार के स्तर पर वहीं खड़े नजर आते हैं जो भक्ति आंदोलन का मूल भाव था।

रचनात्मक स्तर पर तत्कालीन समाज में जो लहर सामान्य को केन्द्र में लेकर आयी थी वह इन दोनों रचनाओं में हर तरह से विद्यमान है। बीसलदेवरास की राजमती का जो चरित्र नरपतिनाल्ह ने गढ़ा है वह तत्कालीन समाज में रचनात्मक स्तर पर ही सही, बहुत क्रांतिकारी कदम है। राजमती जिस मुक्त जीवन की कल्पना करती है वह मीरा के यहाँ भी विद्यमान है। वृंदावन का यूटोपिया रच के मीरा ने भी राजमती के समान अपनी आकांक्षा व्यक्त की है। राजमती का चरित्र मीरा के रूप में जीवंत हो उठा है। उस युग में न जाने कितनी मीरा, राजमती और संदेशरासक की नायिका रही होंगी। मीरा ने तो अपने ऊपर लगाये गये प्रतिबंधों को तोड़कर अपनी समर्थता और स्त्री की सार्थकता सिद्ध की, लेकिन बहुत सारी स्त्रियाँ राजमती के समान कल्पना करके या संदेशरासक की नायिका की तरह रोकर–बिलखकर रह गयी होंगी। ऐसे चरित्रों को रचना के केन्द्र में रखकर दोनों रचनाकारों ने स्त्री मन की वेदना और उनकी सामाजिक प्राणी बनने की आकांक्षा को स्वर दिया है। ये दोनों नायिकाएं लाखों स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती हुई सी दोनों रचनाओं में विद्यमान हैं।

दोनों रचनाओं की भाषा में अंतर है। संदेशरासक की रचना अपभ्रंश में की गयी है जबकि बीसलदेवरास की रचना पुरानी राजस्थानी में है। संदेशरासक के समय में अपभ्रंश में परवर्ती भाषा का लक्षण विकसित होना शुरू हो गया था। परसर्गों और प्रत्ययों के विकास में यह परिवर्तन देखा जा सकता है। इन लक्षणों के साथ ही साथ अपभ्रंश की अपनी विशेषताएं भी संदेशरासक में विद्यमान हैं। संयुक्त 'र' विद्यमान नहीं है। 'कगचजतदप' का लोप है, लेकिन कहीं कहीं शब्दों के मध्य इन व्यंजनों का पूरा अस्तित्त्व है, जैसे 'कुकवित्तं', 'सेसातरू', 'मयगलु' इत्यादि। जहाँ इन व्यंजनों का लोप है वहाँ कहीं–कहीं संधि समीकरण प्रक्रिया का प्रयोग किया गया है – सुन्नार – सुण्णआर। 'क्ष' के लिए 'क्ख'

का प्रयोग किया गया है, कहीं–कहीं 'च्छ' का भी प्रयोग है। शब्दारम्भ में 'य' के स्थान पर 'ज' का प्रयोग है – जामिणि < यामिनि। 'न' के स्थान पर न के साथ ही 'ण' का व्यवहार जैसे < णिंद < निंद < नींद, सुविणइ < सुपिनइ < स्वप्न। तालव्य 'श' का अभाव है, सर्वत्र दन्त्य स का प्रयोग है। 'खघथधफभ' के स्थान पर 'ह' का आगम कहीं–कहीं हुआ है – संगसहु < संगसुख, पहिय < पथिक, सोहइ < सोभइ < शोभित, दीहरिहि < दीघरिहि < दीर्घतर। 'रेफ' के स्थान पर बाद वाले व्यंजन के द्वितीकरण की प्रवृत्ति मिलती है – कप्पूर < कर्पूर, दुग्ग < दुर्ग। रेफ के स्थान पर 'रि' का भी प्रयोग हुआ है – फरिसु < स्पर्श आदि ध्वनि सम्बंधी प्रवृत्तियाँ संदेशरासक में मुख्य रूप से दिखायी देती हैं।

बीसलदेवरास में पुरानी राजस्थानी की लगभग सभी विशेषताएं मिलती हैं। 'ख' के स्थान पर हर जगह 'ष' का प्रयोग किया गया है – चउषंडी, सषीय, षंडा, देषि आदि। बिसर्ग (:) का प्रयोग नहीं है और अनुनासिक (ँ) के स्थान पर लगभग हर जगह अनुस्वार (ं) का प्रयोग किया गया है। शब्दों के मध्य आये 'य' का उच्चारण 'य' ही हुआ है – ब्याही, नयण आदि। 'म' के स्थान पर 'व' का प्रयोग हुआ है जोकि अपभ्रंश का प्रभाव है – दवदंती < दवँदंती < दमयंती। 'रेफ' का प्रयोग नहीं हुआ है। सर्वत्र 'स' का व्यवहार है। नकारान्त शब्दों का णकारांत में प्रयोग है – राणी < रानी, जाणइ < जानइ, उण < उन, जिण < जिन आदि। 'उ' विभक्ति का प्रयोग अधिकांशतः कर्त्ता और क्रिया के रूप में किया गया है।

संदेशरासक की भाषा में जहाँ परवर्ती भाषा की कुछ विशेषताओं को देखा जा सकता है वहीं बीसलदेवरास में पुरानी राजस्थानी का पूरा रूप विकसित हो गया है। दोनों रचनाओं के बीच लगभग 200 वर्षों का जो अंतर है उसमें आधुनिक आर्यभाषाओं का रूप अपभ्रंश से अलग स्पष्ट हो गया था।

4.3 प्रभाव

संदेशरासक और बीसलदेवरास दोनों रचनाओं में कथानक और वर्णन प्रणाली की भिन्नता के बावजूद इनकी आत्मा एक है – विरह। विरह और उससे उपजा संदेश दोनों रचनाओं को एक श्रेणी में रखने के लिए पर्याप्त है। परवर्ती काव्य में विरह–वर्णन की जो परम्परा विकसित हुई वह बीसलदेवरास की अपेक्षा संदेशरासक के अधिक निकट है। इसका कारण यह है कि संदेशरासक का विरह–वर्णन और उसकी वर्णन–प्रणाली शास्त्र के अधिक निकट है जबकि बीसलदेवरास का विरह–वर्णन पूरी तरह स्वच्छंद है।

परवर्ती रचनाकारों जैसे विद्यापति, सूर, जायसी आदि के विरह–वर्णन का बाह्य रूप भी संदेशरासक के ही समान है। उनके आंतरिक तत्त्व में कुछ शास्त्र–वर्णित विरह–दशाएं हैं तो कुछ कवि के अपने अनुभव और संवेदना की अभिव्यक्ति है। परवर्ती रचनाओं में कोई भी विरहिणी राजमती जैसी मुक्त कल्पना करती हुई नहीं मिलती है, लगभग सब संदेशरासक की नायिका की भाँति रोती–कलपती ही दिखायी देती हैं। इस स्तर पर बीसलदेवरास अपने समय और परवर्ती काल में भी इस भाव की एकमात्र रचना बन जाती है।

संदेशरासक का रचनाकार प्रबंधात्मक रचना करने में पूर्णतः सक्षम था। फिर भी कथा–काव्य के स्थान पर भाव–काव्य की रचना पूरी प्रबंधात्मकता से करने के कारण वह सीधे–सीधे कालिदास की परम्परा से जुड़ जाता है। दूसरे शब्दों में अब्दुलरहमान का स्थान कालिदास के उत्तराधिकारी के रूप में बनता है। परवर्ती रचनाओं का विरह–वर्णन भले ही संदेशरासक से मिलता–जुलता है लेकिन सम्पूर्णता में देखने पर रचनाओं का साम्य लगभग न के बराबर है। विद्यापति के अतिरिक्त परवर्ती रचनाओं के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण विरह–वर्णन किसी विस्तृत कथा के एक अंश–रूप में आये हैं जबकि संदेशरासक में विरह को ही केन्द्र में रखकर लघु कथानक का रूप गढ़ा गया है। इस रूप में संदेशरासक, मेघदूत के बाद एकमात्र ऐसी रचना है जिसमें संदेश कथन के क्रम में पूरा विरह–वर्णन किया गया हो; वह भी बिना किसी विस्तृत कथानक के। परवर्ती हिन्दी साहित्य में अभी तक कोई भी इस तरह की रचना प्राप्त नहीं है।

दोनों रचनाओं के संबंध में डॉ. शम्भूनाथ पाण्डेय ने लिखा है –

"यदि साहित्यिक परिनिष्ठता के लिए संदेशरासक का नाम आता है तो स्वाभाविक एवं सादी अभिव्यक्ति के लिए बीसलदेवरास का नाम आये बिना नहीं रह सकता।"[26]

संदेशरासक में शृंगारिक रचना की भूमिका स्वरूप प्रथम प्रक्रम में विरोध का जो तेवर है वह न तो भक्तिकालीन प्रबंधात्मक रचनाओं में मिलता है न ही उसके बाद के प्रबंधों में। किसी भी शृंगारिक रचना की भूमिका संदेशरासक जैसी नहीं है। अब्दुलरहमान ने अपनी कविता में सामाजिक विरोध और हृदय के निहायत संवेदनात्मक तत्त्व का जैसा सम्मिश्रण किया है वैसा उनके बाद 'कबीर' के यहाँ ही दिखाई देता है। अब्दुलरहमान का तेवर ही कबीर के यहाँ और अधिक मुखर होकर सामने आता है। सामाजिक रूढ़ियों के विरोध की तीव्रता और प्रेम की संवेदना ही कबीर की कविता का मुख्य स्वर है। अपने

समय और समाज से प्रेम करने वाला जागरूक रचनाकार ही तत्कालीन सामाजिक विडम्बनाओं पर करारी चोट कर सकता है। इस संदर्भ में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है –

"इतना जान रखना आवश्यक है कि लेखक जब देने लायक कुछ देता है तो उसके चित्त में कहीं–न–कहीं और किसी–न–किसी प्रकार की सामाजिक त्रुटि से उत्पन्न व्याकुलता अवश्य रहती है।"[27]

संदेशरासक के प्रथम प्रक्रम में अब्दुलरहमान की ऐसी ही व्याकुलता दिखाई देती है। इसी का परिणाम है कि रचना का मुख्य चरित्र दैवीय या राजसी होने के बजाय एक सामान्य मनुष्य है और उसमें भी स्त्री। सामंती वातावरण में स्त्री–जीवन को लेकर यही व्याकुलता बीसलदेवरास की राजमती के रूप में अभिव्यक्त हुई है। राजमती की मुक्त कल्पना के द्वारा नरपति ने एक प्रतिरोधात्मक संसार रचा है। तत्कालीन समय में राजमती जैसे चरित्र और उसकी अभिव्यक्ति में उस समाज के प्रति ऐसा प्रतिकार भरने वाला कवि भले ही चारणों और भाटों की परम्परा का रहा हो लेकिन उसकी कविता का स्वर उनसे नितांत भिन्न है। परम्परा का प्रभाव बीसलदेवरास के बाह्य कलेवर में तो है लेकिन उसकी आत्मा चारण कवियों की मूल प्रवृत्ति से ठीक उलट है। चारण कवियों में राज्याश्रितों के महिमामंडन वाली प्रवृत्ति के विपरीत बीसलदेवरास में मानवीय संवेदना को अधिक महत्त्व देते हुए सामंती समाज का विरोध किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि भले ही नरपति के पूर्वज राज्याश्रित चारण कवि रहे हों लेकिन नरपति नाल्ह दरबारी कवि कतई न था। इस सम्बन्ध में डॉ. शम्भूनाथ पाण्डेय ने लिखा है –

"स्त्री–जाति में कथन की इतनी स्वतंत्रता कोई राज–दरबारी कवि नहीं भर सकता।"[28]

जब तक रचनाकार स्वयं मानसिक रूप से स्वतंत्र नहीं होगा तब तक उसकी सर्जना में मुक्तता का भाव कहाँ से आयेगा। नरपति नाल्ह जैसा स्वतंत्र कवि ही राजमती जैसे चरित्र का सृजन कर सकता है। मानव–चेतना में बसी सहज और स्वाभाविक प्रवृत्ति स्वतंत्रता है। राजमती इसी स्वतंत्रता का प्रतीक है। नामवर जी राजमती को मन की खरी नायिका लेकिन उसकी जबान को कैंची का सम्बोधन देते हैं –

"इतना दुख झेलने के बाद भी ज़बान की वह कैंची न गई और न हुई तनिक भी भोथर।"[29]

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को 'ज़बान की कैंची' कहना कहाँ तक उचित है ! बीसलदेव के झूठे दम्भ का प्रतिकार करना या उसके कर्म के विषय में सही बात कहना यदि 'ज़बान की कैंची' या 'काठ–सी–कठेठी' बात है तो मीरा की ज़बान और उनकी कविता को क्या सम्बोधन दिया जाए ! राजमती ने तो सिर्फ बीसलदेव के मिथ्या गर्व का विरोध किया और पत्नी होने का अधिकार माँगा था। सामाजिक संरचना में स्त्रियों के साथ सदियों से जो पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया गया है उस ओर तो राजमती का ध्यान ही नहीं है। मीरा तो पुरुष, राज और लोक तीनों सत्ताओं का एक साथ विरोध करती हैं। सिर्फ राणा ही नहीं उस जैसे तमाम लोगों को एक साथ सम्बोधित करते हुए कहती हैं –

नहिं सुख भावै थांरो देसलड़ो रंगरूड़ो।।
थांरे देसां में राणा साध नहीं छै, लोग बसै सब कूड़ो।[30]

मीरा ने सदियों से वंचित स्त्री के हृदय को जो स्वर दिया है वही नरपति नाल्ह ने राजमती के रूप में गढ़ा है। राजमती की ज़बान कैंची नहीं बल्कि हजारों वर्षों से दबायी गयी स्त्री की वह आवाज है जिसमें अपने अधिकार की चाह साफ–साफ सुनायी देती है।

संदेशरासक और बीसलदेवरास अपने समय से लेकर अब तक एक विशिष्ट कोटि की रचनाएँ हैं। आदिकाल में इस कोटि की अन्य रचनाएँ अवश्य ही रची गयी होंगी लेकिन पर्याप्त संरक्षण के अभाव में नष्ट हो गयी होंगी क्योंकि ऐसी रचनाओं को न तो राज का आश्रय प्राप्त हुआ होगा और न ही धर्म का।

संदर्भ

1. बीसलदेवरास, पृ. 135–136
2. संदेशरासक, पृ. 165
3. बीसलदेवरास, पृ. 126–127
4. वही, पृ. 128
5. भारत का इतिहास, पृ. 33
6. मीरा का काव्य, पृ. 20
7. बीसलदेवरास, पृ. 142–143
8. वही, पृ. 166–167
9. वही, पृ. 119–120
10. कवितावली, पृ. 17
11. बीसलदेवरास, पृ. 120–121
12. संदेशरासक, पृ. 143
13. बीसलदेवरास, पृ. 86
14. वही, पृ. 88
15. संदेशरासक, पृ. 147
16. शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 176
17. भारत का इतिहास, पृ. 98–99
18. शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 205
19. कबीर, पृ. 17
20. मध्यकालीन धर्म साधना, पृ. 49
21. मीरा का काव्य, पृ. 24
22. संदेशरासक, पृ. 143
23. वही, पृ. 146
24. वही, पृ. 146
25. वही, पृ. 145
26. आदिकालीन हिन्दी साहित्य, पृ. 129
27. मध्यकालीन धर्म साधना, पृ. 57
28. आदिकालीन हिन्दी साहित्य, पृ. 125
29. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ. 234
30. मीरा का काव्य, पृ. 104

उपसंहार

उपसंहार

रचनात्मकता की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का आदिकाल बहुत समृद्ध है। कथानक, काव्य–रूप, भाषा, छंद, अलंकार एवं अन्य साहित्यिक उपादानों के स्तर पर आदिकालीन रचनाएं प्रौढ़ साहित्य की श्रेणी में आती हैं। अपेक्षित अध्ययन की कमी के कारण अभी भी आदिकालीन साहित्य के काव्य–रूपों एवं प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में कुछ भ्रम बने हुए हैं। रास, रासो एवं रासक को भिन्न–भिन्न काव्य–रूप समझना ऐसे ही भ्रम का एक उदाहरण है। रास काव्यरूप के क्रमिक विकास के परिप्रेक्ष्य में देखने पर स्पष्ट होता है कि रास, रासो और रासक अलग–अलग काव्यरूप नहीं बल्कि एक ही काव्य–रूप के भिन्न–भिन्न नाम हैं। कई स्थलों पर तो स्वयं रचनाकारों ने भी इसे स्पष्ट किया है। इस संदर्भ में उपदेश रसायन रास, भरतेश्वर बाहुबलि रास, रेवंतगिरिरास, नेमिरास आदि रचनाओं के सम्बन्ध में उनके रचनाकारों के सम्बोधन को देखा जा सकता है। आदिकाल में रास काव्य–रूप किसी एक निश्चित नियम या परिपाटी के आधार पर नहीं विकसित हुआ है। तत्कालीन समय में विभिन्न स्तरों पर रास–काव्य लिखे जा रहे थे। उस काल में हमें धार्मिक, चरित–वर्णनात्मक और लौकिक तीन तरह के रास ग्रंथ मिलते हैं। इन ग्रंथों में भावगत भिन्नता के कारण इन्हें अलग–अलग काव्य–रूपों की रचना समझ लिया गया है और रास, रासो या रासक शब्दों के आधार पर इनका विभाजन कर दिया गया है।

आदिकाल में रास ग्रंथों की लम्बी शृंखला मिलती है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उसे तीन भागों में विभाजित किया गया है। लौकिक रास–साहित्य भी उसी शृंखला की एक कड़ी है। इसमें प्रबंध रचनाओं के साथ ही साथ मुक्तक दोहों को भी शामिल किया गया है। ये दोहे हेमचंद्र आदि रचनाकारों की रचनाओं में संकलित हैं। इनके संकलन का एक कारण तो 'मुंजरास' नामक कल्पित प्रबंध का आधार है तो दूसरा कारण आदिकाल में निहायत लौकिक धरातल को आधार बनाकर निर्मित रचनाओं की कमी है। इस वर्ग में तीन–चार प्रबंध रचनाओं के अतिरिक्त सामग्री का लगभग अभाव है। प्राप्त रचनाओं के प्रौढ़ रूप को देखते हुए यह विश्वास और मजबूत होता है कि उस समय ऐसी रचनाओं की एक विस्तृत परम्परा रही होगी। राज या धर्म का आश्रय न मिलने के कारण ऐसी रचनाएं संरक्षित नहीं रहीं। मुक्तक और प्रबंध के आधार पर इस वर्ग के दो उपवर्ग किए जा सकते हैं लेकिन प्राप्त सामग्री की कमी के कारण ऐसे किसी विभाजन की अधिक आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

संदेशरासक अपभ्रंश साहित्य का पहला लौकिक संदेश–काव्य है। हजारीप्रसाद द्विवेदी और विश्वनाथ त्रिपाठी ने उपलब्ध पाँच प्रतियों के आधार पर ग्रंथ के पाठ का निर्धारण किया है। इस ग्रंथ की एक अन्य प्रति का एक पन्ना अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के डॉ. रामसुरेश त्रिपाठी ने द्विवेदी जी को उपलब्ध कराया। यह पन्ना एक विवादास्पद छंद की व्याख्या में काफी सहायक हुआ। अब्दुलरहमान ने संदेशरासक के आरम्भ में अपना संक्षिप्त परिचय दिया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी और विश्वनाथ त्रिपाठी ने इसकी व्याख्या की है। अब्दुलरहमान के परिचय के संदर्भ में उनके द्वारा की गई व्याख्या ही अधिक उचित है।

संदेशरासक में उसके रचनाकाल के संदर्भ में कोई संकेत नहीं है। ग्रंथ की भाषा एवं उसमें वर्णित नगरों के इतिहास को आधार बनाकर उसका काल–निर्धारण किया जा सकता है। यद्यपि विद्वानों ने इन आधारों पर काल निर्धारित करने का प्रयास किया है लेकिन उनके प्रयास या तो ऐतिहासिक दृष्टि से गलत सिद्ध होते हैं या निष्कर्षों के अंतर्विरोध के कारण। संदेशरासक के काल का अनुमान ही लगाया जा सकता है कोई निश्चित तिथि नहीं दी जा सकती। संदेशरासक के पूर्व–निर्धारित समयों और विद्वानों के अपने अंतर्विरोधों को केन्द्र में रखकर, वर्णित तीनों नगरों के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उनका मूल्यांकन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यह सिद्धराज जयसिंह के समय 12वीं सदी के पूर्वार्द्ध की रचना है।

संदेशरासक के नगर–वर्णन में कला के अन्य माध्यमों की झलक और तत्कालीन अन्य कलाओं से उसका साम्य, विशिष्ट बन पड़ा है। अब्दुलरहमान की अपने समाज के प्रति जैसी पक्षधरता है वह पूरे ग्रंथ को एक नया आयाम प्रदान करती है और उसमें वर्णित भाव को और अधिक यथार्थ बनाती है। तत्कालीन समय और समाज को प्रकारान्तर से स्पष्ट करने में संदेशरासक एक महत्त्वपूर्ण उपादान है। ऐसी रचनाएं ही समय, समाज और संस्कृति की निरंतरता को बनाये रखती हैं। समय और युग की निरंतरता व्यक्ति के साथ हमेशा बनी रहती है। इसे कुर्रतुलऐन हैदर के इस वाक्य से समझा जा सकता है –

"माजी हाल में शरीक है और मुस्तक़िबल में भी। वक्त की इस शोबदाबाजी ने मुझे बड़ा हैरान कर रखा है।"

संदेशरासक मनुष्य के जीवट और उसकी रचनात्मकता के उदाहरण स्वरूप आदिकालीन साहित्य में उपस्थित है।

बीसलदेवरास के रचनाकाल एवं नायक के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान विग्रहराज तृतीय को तो कुछ विग्रहराज चतुर्थ को इस ग्रंथ का नायक मानते

हैं। ग्रंथ में वर्णित नगरों और बीसलदेव के संदर्भ में प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विग्रहराज चतुर्थ (1153–63 ई.) इस रचना के नायक हैं। ग्रंथ की रचना–शैली के आधार पर भी इस बात की पुष्टि होती है। रचना–शैली और भाषा के आधार पर इसका रचनाकाल 14वीं शताब्दी माना जा सकता है।

नायिका के रूप में राजमती जैसे चरित्र का सृजन ही बीसलदेवरास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। राजमती के माध्यम से तत्कालीन परिवेश में स्त्री की आकांक्षा और उसकी सीमा को नरपति नाल्ह ने यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। राजमती के माध्यम से स्त्री–चरित्र का जैसा विस्तार नरपति नाल्ह ने बीसलदेव रास जैसी छोटी रचना में किया है वैसा आदिकाल एवं मध्यकाल के बड़े प्रबंधों में भी अनुपलब्ध है। बीसलदेव के प्रवास करने से पूर्व तक राजमती के भीतर रानी–चरित्र का दर्प थोड़ा बहुत विद्यमान है, लेकिन बीसलदेव के चले जाने के बाद राजमती का चरित्र निहायत साधारण स्त्री के रूप में चित्रित हुआ है। साधारण स्त्री के रूप में चित्रित राजमती का चरित्र पहले के ही समान मुखर बना रहता है। कवि ने रचना में आद्यंत राजमती के तेजस्वी चरित्र को विस्तार दिया है। इसी कारण विरह की अवस्था में वह स्त्री–मन की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त कर पायी है। राजमती की मुक्ति–आकांक्षा पूरी रचना का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है। रचना के इस अंश के कारण ही जहाँ एक ओर राजमती आदिकाल और मध्यकाल की सर्वाधिक तेजस्वी स्त्री–चरित्र के रूप में सामने आती है तो वहीं दूसरी ओर बीसलदेवरास एक विशिष्ट ग्रंथ के रूप में।

बीसलदेवरास की रचना लोक–कथाओं की शैली पर की गई है। इसका मुख्य कारण है नरपति को अपने पूर्वजों से प्राप्त चारण काव्य–परम्परा। लोक–कथाओं की शैली के कारण ही लोक प्रचलित मुहावरों, कथनों, उपमानों और दृष्टांतों का पूरे ग्रंथ में खूब प्रयोग है। परवर्ती रचनाकारों के यहाँ भी अभिव्यक्ति के ऐसे प्रयोग काफी मिलते हैं। राजमती का भावावेग जिस विदग्धता के साथ अभिव्यक्त हुआ है वैसा तत्कालीन किसी रचना में नहीं मिलता। सूर की गोपियाँ ही इस संदर्भ में राजमती के कुछ निकट पहुँच पाती हैं। बाद की रचनाओं में भी भावावेग और वाग्विदग्धता का ऐसा संयोग दुर्लभ है। रचनाकार ने राजमती के अंतर्मन को पूरी तरह खोलकर सामने रखा है। उस पर किसी भी स्तर से किसी भी प्रकार का कोई आवरण नहीं डाला गया है और इसमें सर्वाधिक सहायक हुआ है रचना का शिल्प। लोक–कथाओं की प्रचलित शैली स्त्री–मन के विभिन्न आयामों को उजागर करने में पूरी तरह सफल हुई है। राजमती के चरित्र को जैसा विस्तार नरपति नाल्ह ने दिया है वह रचना के शिल्प के कारण ही सम्भव हो सका।

संदेशरासक में विरह संदेश–कथन के क्रम में आया है। संदेश–कथन का बेहद मनोवैज्ञानिक वर्णन पूरी रचना में किया गया है। विरह–वर्णन में पूरे उतार–चढ़ाव के साथ विरही–हृदय की वेदना अभिव्यक्त हुई है। जैसे–जैसे विरह–वर्णन आगे बढ़ता जाता है वैसे–वैसे नायिका के मन की एक–एक परत खुलती जाती है और उसका दुःख धीरे–धीरे और घनीभूत होकर सामने आने लगता है। विरह–वर्णन के आरम्भ में शारीरिक चेष्टाओं का अधिक चित्रण है, लेकिन अंत होते–होते समस्त शारीरिक और मानसिक संताप शब्द–रूप में अभिव्यक्त हो गये हैं।

'संदेश–कथन' को केन्द्र में रखकर रचना करना अपने आप में महत्त्वपूर्ण है ही, उस भाव को रासक जैसे गीत–प्रधान काव्य–रूप में ढालना इसे और अधिक महत्त्वपूर्ण बना देता है। गीति–तत्त्व स्वयं भावों को वहन करने में पूरी तरह सक्षम है। गीति–तत्त्व वस्तुतः लोक की विशेषता है। लोक की पक्षधरता और अपनी रचना के भावात्मक उत्कर्ष के लिए ही अब्दुलरहमान ने तत्कालीन साहित्यिक अपभ्रंश के स्थान पर आम बोलचाल की भाषा को अपनाया है। अत्यंत क्षीण कथानक को कवि ने शिल्प के स्तर पर पूरी प्रबंधात्मकता प्रदान की है। रचना का शिल्प हर स्तर से भाव के उत्कर्ष में सहायक हुआ है। इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है संवाद–योजना। विरह–वर्णन के क्रम में संवाद की योजना रचना को अन्य विरह–वर्णन प्रधान रचनाओं से भिन्न कोटि प्रदान करती है। संवाद–योजना का आधार सामान्य सवाल–जवाब नहीं बल्कि मन–मस्तिष्क के जुड़ाव के रूप में अधिक उभरा है। रचना में प्रयुक्त उपमान अधिकांशतः शास्त्र निर्धारित हैं लेकिन कहीं–कहीं कुछ नये उपमानों की भी उद्‌भावना हुई है।

संदेशरासक के विरह–वर्णन में प्रकृति का चित्रण षड्‌ऋतु–वर्णन के आधार पर किया गया है। यह षड्‌ऋतु–वर्णन पूर्व–प्रचलित काव्य परम्परा के अनुरूप है। इसमें प्रकृति मुख्य रूप से उद्‌दीपन के लिए आई है लेकिन कहीं–कहीं वातावरण–निर्माण, उपदेशात्मक, मानवीकरण और संवेदनात्मक रूप में भी उसका चित्रण किया गया है। वस्तुतः अब्दुलरहमान का उद्‌देश्य विरहिणी नायिका की वेदना को अधिकाधिक अभिव्यक्त करना था न कि प्रकृति का सुंदर चित्रण करना। इसीलिए प्राकृतिक दृश्य विरह–वेदना को अत्यधिक उद्‌दीप्त करने के लिए ही प्रयोग किये गये हैं। और उसमें वे सफल भी हुए हैं। फिर भी प्रकृति–चित्रण की दृष्टि से देखने पर रचना में काव्य–शास्त्रीय नियमों का अनुपालन ही मिलता है।

'बीसलदेवरास' में प्रकृति–चित्रण राजमती के विरह–वर्णन के संदर्भ में बारहमासा के आधार पर किया गया है। लोक–कथाओं की शैली अपनाने के कारण ही इसमें

प्रकृति–वर्णन बारहमासा के आधार पर हुआ है। बारहमासा–वर्णन लोकगीत की बहुत प्रचलित परम्परा है। बीसलदेवरास का बारहमासा–वर्णन कार्तिक से शुरू होकर आश्विन मास तक चलता है। बारहमासा के इस वर्णन में प्रकृति का अत्यंत संक्षिप्त चित्रण है, राजमती के विरह–संतप्त कथनों की ही अधिकता है। वस्तुतः पूरा बारहमासा–वर्णन प्रकृति–वर्णन की अपेक्षा काल–परिवर्तन को दर्शाने के लिए आया है। इसीलिए किसी प्राकृतिक दृश्य की अपेक्षा हर महीने में होने वाले कुछ प्राकृतिक–परिवर्तनों और व्यक्ति पर उनके पड़ने वाले प्रभावों का ही चित्रण है। यदि एक–दो प्राकृतिक–दृश्य आये भी हैं तो राजमती की वेदना को उद्दीप्त करने के लिए।

दोनों रचनाओं की समानता और असमानता का मुख्य कारण उनकी कथावस्तु, वर्णन–प्रणाली और प्रभाव की समानता और असमानता हैं। दोनों रचनाओं की कथावस्तु में पर्याप्त भिन्नता है इस कारण उनके विरह–वर्णन और संदेश–कथन में भी कुछ असमानताएं आ गयी हैं। दोनों रचनाओं की नायिकाओं का चरित्र उनकी कथावस्तु के केन्द्र में है। दोनों नायिकाओं के वर्ग और स्वभाव में काफी अंतर है। वास्तव में स्वभावगत अंतर का मुख्य कारण उनका वर्ग–विशेष है। संदेशरासक की नायिका व्यापारी घराने की है तो राजमती रानी है। दोनों की अभिव्यक्ति में उनके वर्ग का मनोवैज्ञानिक प्रभाव बना हुआ है। इसीलिए दोनों रचनाओं में उपस्थित समाज दो भिन्न–भिन्न स्तरों का है। संदेशरासक में तत्कालीन समाज के तीसरे वर्ग – व्यापारी वर्ग का सूक्ष्म मनोविज्ञान और उसका यथार्थ उभर कर सामने आया है। नायिका और पथिक दोनों इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। इस वर्ग की स्त्री का यथार्थ नायिका के रूप में उभरा है तो पुरुष का यथार्थ पथिक के रूप में। अपने–अपने स्तर पर दोनों वर्गगत स्वभाव और परिवेश से विवश हैं। बीसलदेवरास में आया समाज सामंती है। रचना में बीसलदेव सामंती पुरुषवादी मानसिकता के प्रतिनिधि चरित्र के रूप में सामने आया है। राजमती इस समाज की मुखर स्वभाव वाली स्त्री का प्रतिनिधित्व कर रही है। राजमती के मुखर स्वभाव और उसकी प्रतिबद्धता को यह परिवेश किसी भी प्रकार आत्मसात नहीं कर पाता है। हर स्तर से उसके स्वभाव को दोषी सिद्ध करने का उपक्रम इस परिवेश में हुआ है। कुछ स्थलों पर तो स्त्री–चरित्रों ने भी पुरुषवादी अहं को ही श्रेष्ठ बताने की कोशिश की है।

खण्डकाव्यात्मक और विरह–प्रधान रचना होने के बावजूद संदेशरासक और बीसलदेवरास की वर्णन–प्रणाली एक–दूसरे से बिल्कुल अलग है। इस भिन्नता का मुख्य कारण है – अब्दुलरहमान और नरपति नाल्ह दोनों को उनके वर्ग–विशेष से प्राप्त काव्य–परम्परा। अब्दुलरहमान शिल्पी जाति से हैं। रूढ़ सामाजिक नियमों के प्रति विरोध

का भाव इस जाति की ऐतिहासिक विशेषता है। अपने समय और समाज के प्रति प्रतिबद्धता का भाव अब्दुलरहमान को परम्परा से प्राप्त है। यह पक्षधरता इस वर्ग के कवियों की कविताओं में स्वभावतः उभर कर सामने आती है। अब्दुलरहमान की कविता में भी साधारण के प्रति लगाव की यह विशेषता स्वाभाविक रूप में आयी है। नरपति नाल्ह चारण और भाट परम्परा से जुड़े कवि हैं। बीसलदेवरास की रचना–शैली पर इन जातियों की काव्य–परम्परा का पूरा प्रभाव है लेकिन उसका आंतरिक गढ़न नरपति की अपनी व्यक्तिगत चेतना का प्रतिफलन है।

कथावस्तु और वर्णन–प्रणाली की असमानताओं के बाद भी दोनों रचनाओं का प्रभाव लगभग समान है। दोनों रचनाएं अपने–अपने स्तर से तत्कालीन समाज की स्त्री की स्थिति को स्पष्ट करने में सफल हैं। हर वर्ग की स्त्री का सच लगभग एक समान है। इसे इन दोनों रचनाओं में देखा जा सकता है। दोनों रचनाओं में उनके रचनाकारों की सामाजिक सजगता और उसके प्रति उनकी प्रतिबद्धता आद्यंत बनी हुई है। जिस समय राजा को संतुष्ट करने और धर्म के प्रचार–प्रसार के लिए कविता का प्रयोग किया जा रहा था, उस समय स्त्री की आकांक्षा और उसके यथार्थ को केन्द्र में रखकर कविता करना दोनों रचनाकारों को मानवीय–चेतना–सम्पन्न बनाता है। ऐसी चेतना सम्पन्न कलाकार की कला ही सांस्कृतिक विकास में अपनी उपादेयता हमेशा बनाये रखती है।

संदर्भ–ग्रंथ सूची

आधार–ग्रंथ
सहायक ग्रंथ

संदर्भ–ग्रंथ–सूची

आधार ग्रंथ

1. अब्दुलरहमान – संदेशरासक, सं. हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1975
2. नरपति नाल्ह – बीसलदेवरास, सं. माताप्रसाद गुप्त तथा अगरचंद नाहटा, इलाहाबाद : हिन्दी परिषद् प्रकाशन, सं. 2007

सहायक ग्रंथ

1. अरुण कुमार सिंह – संदेशरासक और पद्मावत का तुलनात्मक अध्ययन, वैशाली, (बिहार) : प्राकृत, जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, प्रथम सं. 1988
2. आचार्य विश्वनाथ – साहित्य दर्पण, सं. मेहरचंद लछमनदास, नई दिल्ली : दरियागंज
3. कालिदास – ऋतुसंहार, सं. पाण्डुरंग जावाजी, बम्बई : निर्णयसागर प्रेस, 1931
4. कालिदास – मेघदूत, दिल्ली : संस्कृत ग्रंथागार
5. घनानंद – घनानंद कवित्त, सं. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाराणसी : संजय बुक सेन्टर, 2008
6. चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' – पुरानी हिन्दी, वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, चतुर्थ सं. संवत् 2042 वि.
7. चन्दरबरदाई – पृथ्वीराज रासो (संक्षिप्त), सं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह, इलाहाबाद : साहित्य भवन प्रा.लि., पांचवाँ सं. 1968
8. जगन्नाथ दास रत्नाकर – उद्धव–शतक, सं. डॉ. जगदीश गुप्त, इलाहाबाद : सुमित्र प्रकाशन, 2003
9. जयदेव – गीतगोविंद, रसमंजरी टीका, शंकर मिश्र प्रणीत, बम्बई : निर्णयसागर प्रेस, 1910
10. जायसी – पद्मावत, सं. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नई दिल्ली : प्रकाशन संस्थान, प्रथम सं. 2006
11. डॉ0 अम्बादत्त पंत – अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति, वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम सं. संवत् 2026 वि.
12. डॉ. जे.पी. खण्डेलवाल – संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास, दिल्ली : मेघ प्रकाशन, 2001
13. डॉ. नगेन्द्र – हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपादित, नोएडा : मयूर पेपरबैक्स, 1993
14. डॉ. परममित्र शास्त्री – सूत्रशैली और अपभ्रंश व्याकरण, काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, सं. 2024 वि.
15. डॉ. भोलाशंकर व्यास – प्राकृत पैंगलम्, भाग–1, संपादित, वाराणसी : प्राकृत ग्रंथ परिषद्, 1959

16. डॉ. भोलाशंकर व्यास – प्राकृत पैंगलम्, भाग–2, संपादित, वाराणसी : प्राकृत ग्रंथ परिषद्, 1962
17. डॉ. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य, प्रयाग : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 1994
18. डॉ. रघुवंश – प्रकृति और काव्य, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय सं. 1963
19. डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी – संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, द्वितीय सं. 2007
20. डॉ. रामकुमार वर्मा – हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, सप्तम सं. 2007
21. डॉ. शम्भूनाथ पाण्डेय – आदिकालीन हिन्दी साहित्य, वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रथम सं. 1970
22. डॉ. शम्भूनाथ पाण्डेय – अपभ्रंश – आदिकाल एवं भक्तिकाल के सामाजिक–सांस्कृतिक आयाम, वाराणसी : संजय बुक सेन्टर, प्रथम सं. 1998
23. डॉ. शम्भूनाथ पाण्डेय – अपभ्रंश साहित्य का सौन्दर्य, वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1985
24. तुलसीदास – श्रीरामचरितमानस, गोरखपुर : गीताप्रेस, सं. 2064
25. तुलसीदास – कवितावली, गोरखपुर : गीताप्रेस, सं. 2064
26. दशरथ ओझा, दशरथ शर्मा – रास और रासान्वयी काव्य, संपादित, वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन
27. नामवर सिंह – हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2006
28. नामवर सिंह – पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य, नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2007
29. पं. करुणापति त्रिपाठी, डॉ. बासुदेव सिंह – हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग–3), संपादित, वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, संवत्, 2040 वि.
30. प्रवरसेन – सेतुबंध, दिल्ली : भारतीय विद्या प्रकाशन, 1982
31. ब्रजमोहन शर्मा – अपभ्रंश के चरित काव्यों में नारी के बहुआयामी व्यक्तित्व, दिल्ली : सूर्य भारती प्रकाशन
32. बाणभट्ट – हर्षचरित, सं. सत्यभामाबाई पाण्डुरंग, बम्बई : निर्णयसागर प्रेस, सातवाँ संस्करण 1946
33. बाल्मीकि रामायण (प्रथम भाग), गोरखपुर : गीताप्रेस, द्वितीय संस्करण, संवत् 2024 वि.
34. भोजराज, सरस्वती कंणभरण, सं. पाण्डुरंग जावाजी, बम्बई : निर्णयसागर प्रेस, 1956
35. भोजराज – शृंगार प्रकाश, मैसूर : कोरोनेशन प्रेस, 1955
36. भवभूति – उत्तररामचरितम्, सं. पाण्डुरंग जावाजी, बम्बई : निर्णयसागर प्रेस, 9वाँ संस्करण 1939
37. माघ – शिशुपाल वधम्, सं. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत भवन, संवत् 2055 वि.
38. राजशेखर – काव्यमीमांसा, सं. पं. केदारनाथ शर्मा, पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1954
39. रामचंद्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नई दिल्ली : कमल प्रकाशन

40. रामचंद्र शुक्ल – चिंतामणि भाग–1, वाराणसी : संजय बुक सेन्टर, प्रथम सं. 2004
41. रामचंद्र शुक्ल – चिंतामणि भाग–2, वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम सं. 2066 वि.
42. रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 22वाँ सं. 2009
43. रामशरण शर्मा – शूद्रों का प्राचीन इतिहास, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पेपरबैक सं. 1992, छठीं आवृत्ति 2007
44. रोमिला थापर – भारत का इतिहास, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, आवृत्ति 2009
45. वचनदेव कुमार – संस्कृत साहित्य का इतिहास, नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1977
46. विद्यापति – पदावली, सं. डॉ. शिवप्रसाद सिह, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, बीसवां संस्करण 2010
47. विश्वनाथ त्रिपाठी – मीरा का काव्य, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, संस्करण 1998, आवृत्ति 2010
48. विश्वनाथ त्रिपाठी – लोकवादी तुलसीदास, नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, तीसरा सं. 2007
49. शारदातनय – भाव प्रकाश, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज–45, बड़ौदा : ओरियंटल इंस्टीट्यूट, 1968
50. स्वयंभू – पउमचरिउ, सं. एच.सी. भयाणी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1970
51. सतीशचन्द्र – मध्यकालीन भारत सल्तनत से मुग़लकाल तक (दिल्ली सल्तनत : 1206–1526), नई दिल्ली : जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्स, 2003
52. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या – भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, तीसरी आवृत्ति 2004
53. सूरदास – भ्रमरगीत सार, सं. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, संस्करण, 2007 ई.
54. हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिन्दी साहित्य का आदिकाल, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम सं. 2006
55. हजारी प्रसाद द्विवेदी – मध्यकालीन धर्म साधना, इलाहाबाद : साहित्य भवन प्रा.लि., तृतीय सं. 2003
56. हजारी प्रसाद द्विवेदी – कबीर, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, सत्रहवीं आवृत्ति सं. 2011
57. हरिवंश कोछड़ – अपभ्रंश–साहित्य, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, प्रथम सं. संवत् 2013 वि.
58. हरिश्चंद्र वर्मा – मध्यकालीन भारत भाग–1, (750–1540), संपादित, नई दिल्ली : हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2008
59. हेमचंद्र – काव्यानुशासन, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 2001
60. श्री द्वैपायन मुनि प्रणीत – अग्निपुराण, पूना : आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावली, 1909
61. भागवत पुराण, बम्बई : वेंकटेश्वर प्रेस, सं. 1957
62. विष्णु पुराण, गोरखपुर : गीताप्रेस, 1990
63. हरिवंश पुराण, बम्बई : वेंकटेश्वर प्रेस, सं. 1972

Jawaharlal Nehru University Library